

CONTENTS

1857 : साझी शहादत साझी विरासत की जीवित दास्तान	5
Why 10 May Deserves a Grand Commemoration	10
The Revolt in the Indian Army	12
क्यों डरती रही हैं भारत की सरकारें 1857 से	14
Against All Odds: JNU Students Keep Democracy Alive	16
जेएनयूएसयू अध्यक्ष नीतीश कुमार से कुमार दिव्यम की बातचीत	19
Student Movements Must Reclaim University as a Democratic Space	21
Caste Census: Way forward or Retrogression?	23
The Narayanpur Massacre and the BJP's Sinister Military Campaign for a 'Maoist-free India'	26
15 for 15: A Movement in Transition	28
गाजा में सुह्रद	31
Supreme Court's Order on Two-Language Policy is Welcome	32

Editor-in-Chief

Prasenjeet Kumar

Editor

Neha

Editorial Board

Abhigyan, Aratrika, Ayush, Bhanu, Divyam, Lekha, Nitin, Ritam, Shashank

Design

Naushad & Lekha

Cover Design

Simmeen Anjum

For Contributions: Prasenjeet kumar

A/C- 39972352696 | IFSC- SBIN0010433

BRANCH- HINDU COLLEGE, DELHI UNIVERSITY.

PayTM/G-Pay- 9971984703 | UPI - pk.du.history@oksbi

Email us at naiveedhi@aisa.orgराष्ट्रीय सुरक्षा का सवाल
और भाजपा का सांप्रदायिक राज

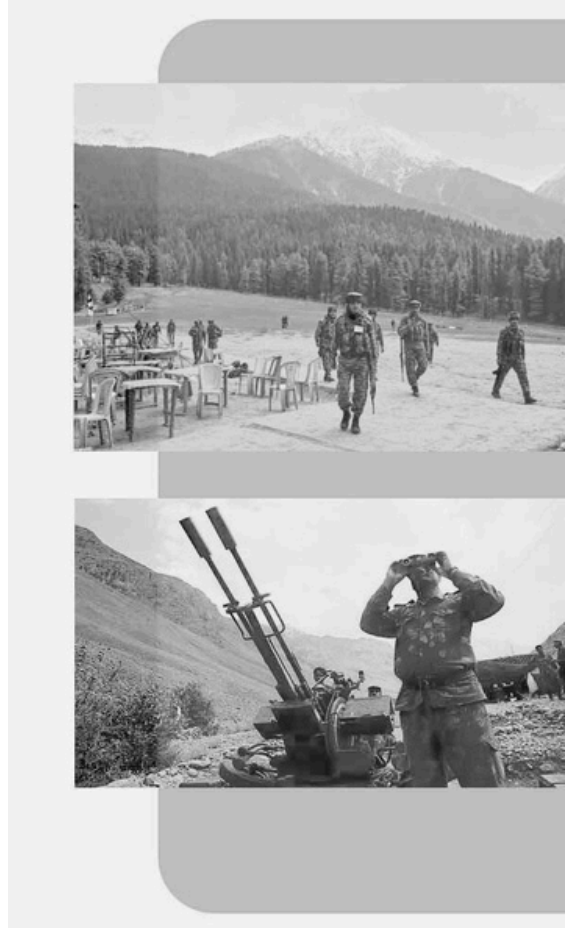
पिछले एक दशक में मोदी शासन की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि राष्ट्रीय सुरक्षा (पुलवामा और पहलगाम); नीति कार्यान्वयन (नोटबंदी) या राष्ट्रीय आपातकाल (कोविड) जैसे गंभीर मामलों में सरकार की विफलताओं को तत्काल और पूर्वनियोजित साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण और आरएसएस-प्रायोजित तथाकथित राष्ट्रवादी बयानबाजी के तहत दबा दिया जाता है। तर्क और असहमति की किसी भी आवाज को घास का पुतला बना दिया जाता है और प्रधानमंत्री की तथाकथित दिव्य-भय छवि में किसी भी आशंकित दरार को विपक्ष की साजिश बताकर सख्ती से खारिज कर दिया जाता है। लेकिन बीते हफ्तों की विफलताओं ने कई ऐसी कमियाँ उजागर की हैं जो बहुत बड़ी हैं, और जिनकी वजह से प्रधानमंत्री मुश्किल में हैं।

नवंबर 2014 से दिसंबर 2024 के बीच कुल 86 विदेशी यात्राएँ, जिनमें से प्रत्येक को भारत के वैश्विक प्रभुत्व की दिशा में एक और कदम की तरह उत्सव के रूप दिया गया, लेकिन जब भारत को इसकी सबसे अधिक आवश्यकता पड़ी, तब प्रधानमंत्री के पास दिखाने के लिए कुछ भी नहीं है। अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रम्प, जो पीएम मोदी के 'करीबी दोस्त' हैं, उन्होंने अपनी प्रेस कॉन्फ्रेंस में घोषणा की कि उन्होंने भारत और पाकिस्तान के बीच व्यापार रोकने की धमकी देकर युद्धविराम करवाया — जिसके बाद उन्होंने स्वयं को बधाई भी दी कि व्यापार का उपयोग युद्ध विराम के लिये उनसे पहले किसी ने नहीं किया बल्कि उन्होंने पहले भी कश्मीर के मुद्दे पर अमेरिकी हस्तक्षेप का सुझाव दिया था; जहाँ पाकिस्तान और अमेरिका दोनों ने युद्धविराम करवाने में अमेरिका की भूमिका की सराहना की, वहीं भारत ने दावा किया कि युद्धविराम भारत और पाकिस्तान के बीच द्विपक्षीय वार्ता के बाद आपसी सहमति से हुआ। भारतीय प्रधानमंत्री ने अपने संबोधन में अमेरिकी राष्ट्रपति के बयानों को पूरी तरह अनदेखा कर दिया, जिससे भारत वैश्विक मंच पर अलग-थलग और अपमानित नजर आया। “ऑपरेशन सिंदूर” के दौरान भारत ने अंतरराष्ट्रीय मंचों, जैसे कि 9 मई को IMF बोर्ड की बैठक में, लगातार दावा किया कि पाकिस्तानी राज्य द्वारा सीमा पार आतंकवाद को पैसे दिए जा रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप पहलगाम जैसे हमले हो रहे हैं। हालांकि भारत इन आरोपों को दोहराने में अकेला रह गया, और इस सप्ताह IMF ने भारत की बार-बार की "आतंकवाद के वित्तपोषण" की चिंताओं पर कोई ध्यान दिए बिना पाकिस्तान की दूसरी ऋण किश्त मंजूर कर दी। ब्लूमबर्ग रिपोर्ट के अनुसार, पाकिस्तान के खिलाफ भारतीय राज्य के आरोपों के लिए अंतरराष्ट्रीय समर्थन जुटाना तो दूर, तुर्की, अज़रबैजान और विशेष रूप से चीन जैसे देशों ने न केवल पाकिस्तान का समर्थन किया, बल्कि चीन ने भारत के ऑपरेशन सिंदूर के दौरान पाकिस्तान को महत्वपूर्ण समर्थन भी प्रदान किया। अमेरिकी राष्ट्रपति ने भी भारत के आरोपों का समर्थन करने या पाकिस्तान के राज्य प्रायोजित आतंकवाद का कोई उल्लेख करने से परहेज किया है। एक संप्रभु परमाणु-सशस्त्र राष्ट्र की सीमाओं में सैन्य हमला कोई छोटी बात नहीं है, और यदि भारत वास्तव में सीमा पार आतंकवाद के मुद्दे पर कार्रवाई करके अपने नागरिकों की सुरक्षा सुनिश्चित करना चाहता है, तो वह उन देशों के ठोस समर्थन के बिना ऐसा नहीं कर सकता, जिनके साथ भारत पहले से ही BRICS और SAARC जैसे मंचों के माध्यम से दक्षिण एशिया में संबंध साझा करता है। यदि पहलगाम में पाकिस्तानी राज्य की सल्लिसता पाई गई, तो सिर्फ खुला सैन्य

हमला भारत के शांति और न्याय के लिए ईमानदार प्रयासों का शुरुआत और अंत नहीं होना चाहिए।

जब 22 अप्रैल को इस साल एक आतंकवादी समूह ने पहलगाम पर हमला किया और 26 निर्दोष लोगों की हत्या कर दी, तो कश्मीरी मुसलमानों, भारतीय मुसलमानों, प्रगतिशील संगठनों और अन्य शांति प्रिय लोगों ने सड़कों पर उतरकर हिंसा की निंदा की और पीड़ितों के लिए न्याय की मांग की। कोई भी यह उम्मीद करेगा कि किसी भी देश की सरकार कश्मीर के सबसे लोकप्रिय और भारी सैन्यीकृत पर्यटक स्थलों में से एक में सुरक्षा की गंभीर चूक से शुरू करते हुए हमले की जांच शुरू करेगी। सरकार ने बार-बार आश्वासन दिया है कि Article 370 के निरस्त होने से कश्मीर में सामान्य स्थिति बहाल हो गई है और घाटी में आतंकवाद समाप्त हो गया है, लेकिन पुलवामा और पहलगाम जैसे बार-बार होने वाले आतंकी हमले इसके उलट इशारा करते हैं और कश्मीर के लोगों की लगातार दोहराई जा रही बातों की पुष्टि करते हैं। अगला कदम आदर्श रूप से पाकिस्तान की हमले में संलिप्तता के आरोपों का समर्थन करने के लिए सबूत इकट्ठा करना और फिर भारत के लोगों के लिए स्थायी शांति सुनिश्चित करने के लिए पाकिस्तान को राजनीतिक रूप से और अन्य तरीकों से अलग-थलग करना होता। लेकिन चार दिनों की सैन्य तनातनी और एक दर्जन से अधिक मौतों के बाद, हम अभी भी पहलगाम हमले के अपराधियों को न्याय के कटघरे में लाए जाने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। 14.05.2025 को एमआईबी द्वारा जारी प्रेस विज्ञप्ति के अनुसार, प्रधानमंत्री न केवल पहलगाम हमले की जांच की स्थिति पर कोई अपडेट देने में विफल रहे हैं, बल्कि उन्होंने सैन्य तनातनी में जान गंवाने वाले लोगों की जिम्मेदारी लेने या उनका जिक्र करने में भी विफलता दिखाई है, जिसमें उन्होंने 'निर्णायक भूमिका' निभाई थी।

युद्धविराम के बाद कई सवालियों के जवाब नहीं हैं, और पिछले एक दशक की स्क्रिप्ट के अनुसार जो कोई भी इन्हें उठाता है, उसे निशाना बनाया जाता है और जेल में डाला जाता है। अशोका यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर अली खान महमूदाबाद को हरियाणा पुलिस ने कर्नल सोफिया कुरैशी को दिए गए सम्मान की तरह सभी मुसलमानों के लिए समान सम्मान की मांग करने के लिए गिरफ्तार किया, यह शिकायत हरियाणा राज्य महिला आयोग की अध्यक्ष रेणु भाटिया और बीजेपी युवा मोर्चा के सचिव योगेश जठेरी द्वारा की गई थी, जिसे वह समाचार बहसों में भी साबित नहीं कर सकीं। आजमगढ़ पुलिस ने AISA उत्तर प्रदेश के अध्यक्ष मनीष कुमार के खिलाफ भारतीय राफेल जेट्स को पाकिस्तान द्वारा मार गिराए जाने की अंतरराष्ट्रीय मीडिया रिपोर्टों पर प्रधानमंत्री से साधारण स्पष्टीकरण की मांग उठाने पर एक FIR दर्ज की गई। नागपुर में वीरा साथीदार मेमोरियल के आयोजकों और वक्ताओं के खिलाफ, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की प्रसिद्ध कविता 'हम देखेंगे' गाने के लिए राजद्रोह के गंभीर आरोपों के तहत



मामला दर्ज किया गया, यह शिकायत एक व्यक्ति द्वारा मराठी समाचार चैनल एबीपी माझा के हवाले से की गई थी, जिसने शायद ऑपरेशन सिंदूर के बाद एक पाकिस्तानी कवि के गीत पर सवाल उठाए थे। राष्ट्रीय सुरक्षा सुनिश्चित करने में सरकार की विफलता को पहलगाम के पीड़ितों के लिए न्याय सुनिश्चित करने में विफलता में बदल दिया गया, और अब जब भारत वैश्विक मंच पर अलग-थलग खड़ा है, देश के भीतर तर्क और सच की हर आवाज को कुचला जा रहा है ताकि पाकिस्तान पर भव्य विजय की खोखली कहानी को बल मिले, भले ही वह कितनी भी कमजोर क्यों ना हो। संदेश स्पष्ट है: राजा बाज़ार में नंगा खड़ा है, और जो कोई भी इसे इंगित करता है, उसे दंडित किया जाएगा। ऐसे समय में यह और भी आवश्यक हो जाता है कि जो लोग नम राजा को उसके असली रूप में देख सकते हैं, वे एकजुट हों और पिछले महीने (और दशक) की विफलताओं के मॉडल को परास्त करें और इससे एक ऐसा समाज बनाएं जहां खोखले राष्ट्रवादी नारों के बजाय, लोगों की न्याय और शांति की आकांक्षाएं राष्ट्र की राजनीतिक कार्यवाही का मार्गदर्शन करें। ●

1857 : साझी शहादत साझी विरासत की जीवित दास्तान

■ शम्सुल इस्लाम

**1857 की जंग-ए-आज़ादी में हिन्दू-मुसलमान-सिख साझी कुर्बानियों की हैरत-अंगेज़ अनकही दास्तानें :
साझी विरासत जिसका हिन्दुत्वादी टोली मालियामेट करने में लगी है !**

10 मई 1857, दिन रविवार को छिड़े भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में देश के हिंदुओं, मुसलमानों और सिखों ने मिलकर विश्व की सबसे बड़ी साम्राज्यवादी ताकत को चुनौती दी थी। इस अभूतपूर्व एकता ने अंग्रेज़ शासकों को इस बात का अच्छी तरह अहसास करा दिया था कि अगर भारत पर राज करना है तो हर हालत में देश के सब से बड़े दो धार्मिक समुदायों; हिंदू-मुसलमान के बीच सांप्रदायिक बंटवारे को अमल में लाना होगा और देश के इन दो बड़े धार्मिक संप्रदायों के बीच दूरी पैदा करने के लिए भरसक प्रयास करने होंगे। यही कारण था कि संग्राम की समाप्ति के बाद इंग्लैंड में बैठे भारतीय मामलों के मंत्री (लॉर्ड वुड) ने भारत में अंग्रेज़ी राज के मुखिया (लॉर्ड एल्विन) को यह निर्देश दिया कि अगर भारत पर राज करना है तो हिंदुओं और मुसलमानों को लड़वाना होगा और “हम लोगों को वैसा सब कुछ करना चाहिए, ताकि उन सब में एक साझी भावना का विकास ना हो।”

इस दर्शन को अमल में लाने के लिए गोरे शासकों और उनके भारतीय चाटुकारों ने यह सिद्धांत पेश किया कि हिंदू और मुसलमान हमेशा से ही दो अलग क़ौमों रही हैं। सच तो यह है कि सांप्रदायिक राजनीति को हवा देना और भारतीय समाज को धर्मों के आधार पर बाँटना अंग्रेज़ों की एक मजबूरी बन गया था। 1857 के स्वतंत्रता संग्राम में, जिसको अंग्रेज़ शासकों ने ‘फ़ौजी बगावत’ का नाम दिया था, हिंदुओं-मुसलमानों-सिखों के व्यापक हिस्से एकजुट होकर ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन के खिलाफ़ इतनी बहादुरी से लड़े और कुर्बानियां दीं कि फ़िरंगी शासन विनाश के कगार पर पहुंच गया। हालाँकि अंग्रेज़ जीत गए लेकिन यह गद्दारों और जासूसों द्वारा रचे गए षडयंत्रों की वजह से ही संभव हो सका।

इस महान स्वतंत्रता संग्राम की यह सच्चाई किसी से छुपी नहीं है कि इसका नेतृत्व नानासाहब, मुगल बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र, मौलवी अहमदशाह, तात्या टोपे, खान बहादुरखान, रानी लक्ष्मीबाई, हज़रत महल, अज़ीमुल्लाह खान और शहज़ादा फ़िरोज़शाह ने मिलकर किया। इस संग्राम में मौलवी, पंडित, ग्रंथी, ज़मींदार, किसान, व्यापारी, वकील,

नौकर, महिलाएं, छात्र और सभी जातियों-धर्मों के लोग भी शामिल हुए और जानों की कुर्बानियां दीं।

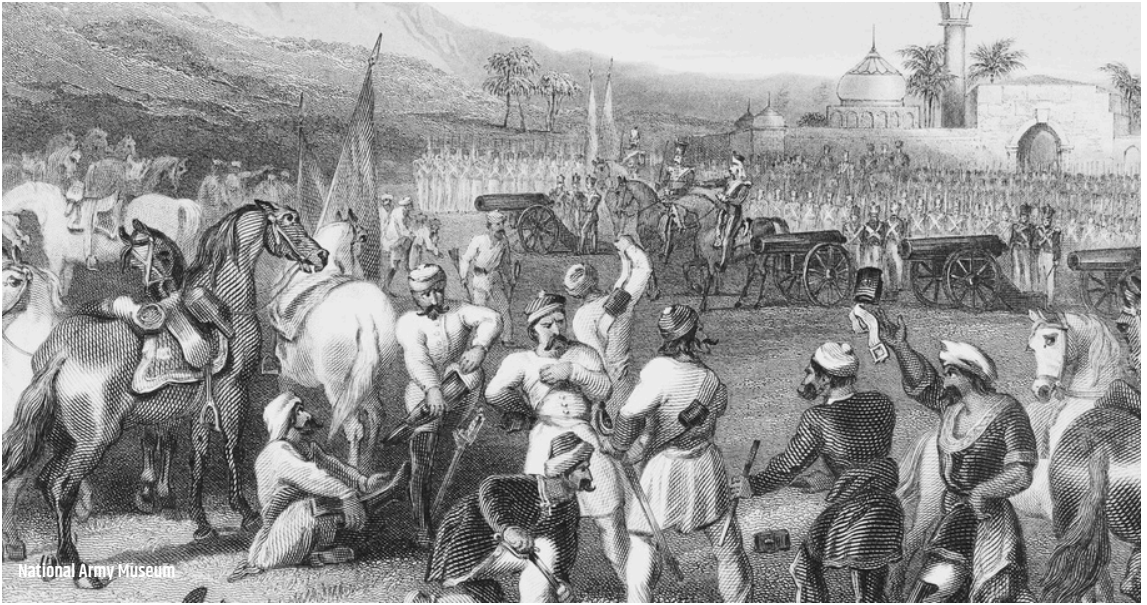
हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिकता के मौजूदा झंडाबरदारों को इस ऐतिहासिक सच्चाई से अवगत कराना ज़रूरी है कि, 11 मई, 1857 को जिस क्रांतिकारी सेना ने मुसलमान बहादुर शाह ज़फ़र को भारत का स्वतंत्र शासक घोषित किया था, उसमें 70 प्रतिशत से भी ज्यादा सैनिक हिंदू थे। बहादुरशाह ज़फ़र को बादशाह बनाने में नाना साहब, तात्या टोपे और लक्ष्मीबाई ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

1857 के संग्राम से संबंधित समकालीन दस्तावेज़ देश के चप्पे-चप्पे पर घटी ऐसी दास्तानों से भरे पड़े हैं, जहां मुसलमान, हिंदू और सिख इस बात की परवाह किए बिना, कि कौन नेतृत्व कर रहा है, और कितनी भारी कीमत चुकानी पड़ सकती है, एक होकर लड़े और 1857 की जंग-आज़ादी में एक साथ प्राणों की आहुति दी। उस समय की सच्चाइयां बहुत स्पष्ट रूप से यह बताती हैं कि हिंदू-मुसलमान अलगाव और दोनों संप्रदायों के बीच विद्वेष का अस्तित्व उस समय एक समस्या के रूप में मौजूद नहीं था।

विभिन्न धर्मों के लोगों ने जिस तरह की साझी शहादत की दास्तानें रचीं उसके कुछ उदाहरण जो समकालीन दस्तावेज़ों में उपलब्ध हैं यहाँ पर प्रस्तुत हैं।

दिल्ली

फ़िरंगियों ने दिल्ली (जिसे 11 मई 1857 के दिन इंकलाबियों ने अंग्रेज़ी शासन से मुक्त करा के एक स्वतंत्र भारत की राजधानी घोषित किया था) पर कब्जे को अपनी नाक का सवाल बना लिया था। उनको लगता था कि अगर एक बार दिल्ली हाथ में आ गई तो पूरे देश में भड़के हुए संग्राम को दबाना मुश्किल नहीं होगा। 1857 में जून से लेकर सितम्बर माह तक अंग्रेज़ सेना ने दिल्ली की ज़र्बदस्त घेराबंदी की हुई थी और उनका



Disarming of the 11th Cavalry at Berhampore, 1857

लगातार यह प्रयास चला था कि दिल्ली में मौजूद इंकलाबी सेना और लोगों को धर्म के नाम पर बँटवाया जाए। लेकिन समकालीन दस्तावेज़ इस सच्चाई को रेखांकित करते हैं कि अंग्रेजों के खादिमों और जासूसों की तमाम कोशिशों के बावजूद हिंदू-मुसलमान-सिख मिलकर दिल्ली की हिफाज़त करते रहे। दिल्ली की इंकलाबी सेना की कमान जिन लोगों के हाथों में थी उन लोगों के नाम थे अज़ीमुल्लाह खान[iii], शाम सिंह दूगा, सिरधारा सिंह, ग़ौस मुहम्मद, हीरा सिंह और 'एक दोआबी ब्राह्मण'। इंकलाबी सेना जिसे फ़्रिंगी 'पुरबिया' सेना कहते थे उसमें भी विशाल बहुमत हिंदुओं का ही था।

हिंदू-मुसलमान एकता किस उत्तम दर्जे की थी उसका अंदाज़ा उस घटना से लगाया जा सकता है जब अंग्रेजों के हमले का मुकाबला करने के लिए शाहजहां के जमाने की एक तोप को ठीक-ठाक करके मोर्चे पर लगाया जा रहा था। इस तोप को पहली बार चलाने से पहले बहादुरशाह ज़फ़र और दूसरे सैनिक अधिकारियों की मौजूदगी में पंडितों ने इसकी आरती उतारी, मालाएं चढ़ाई और आशिर्वाद दिया। अंग्रेज जासूस सांप्रदायिक ज़हर न फैला पाएँ इसलिए इंकलाबी सेना ने दिल्ली में भी गौ-वध पर प्रतिबंध की घोषणा करते हुए यह एलान किया की जो भी ऐसा करते हुए पाया जाएगा उसे तोप से उड़ा दिया जायेगा।

हरियाणा

हांसी (अब हरियाणा में) में अंग्रेज शासकों के खिलाफ़ हुकुमचंद जैन और मुनीर बेग का साझा महान प्रतिरोध इस सिलसिले का एक जीता जागता

उदाहरण है। हुकुमचंद जैन, हांसी और करनाल के कानूनगो, फ़ारसी और गणित के विद्वान और अपने क्षेत्र के एक बड़े जमींदार थे। 1857 के संग्राम की भनक मिलते ही वे दिल्ली दरबार पहुंचे जहां तात्या टोपे भी मौजूद थे। उन्होंने अपने क्षेत्र में इंकलाब का बीड़ा उठाया और अपने करीबी साथी मिर्जा मुनीर बेग के साथ, जो खुद भी फ़ारसी और गणित में पारंगत थे, मिलकर सशस्त्र विद्रोह की तैयारियां शुरू की। इन दोनों ने मिलकर इंकलाबी सेना के दिल्ली नेतृत्व के साथ मिलकर आज के हरियाणा क्षेत्र (उस दौर में भी यह क्षेत्र हरियाणा के नाम से ही जाना जाता था) को अंग्रेजों की दासता से मुक्त कराने की रणनीति बनाई। एक निर्णायक युद्ध में दिल्ली से सहायता न पहुंच पाने और कुछ अंग्रेजों के दलाल राजाओं की गद्दारी की वजह से इन्हें हार का सामना करना पड़ा। सितम्बर के अंत में इंकलाबियों के हाथ से दिल्ली निकल जाने के बाद इन दोनों को हांसी में गिरफ्तार किया गया और मौत की सज़ा सुनाई गई। अंग्रेज शासक इन दोनों से इतने खौफ़-ज़दा थे और हिंदू-मुसलमान एकता की इस शानदार मिसाल से इतने परेशान थे कि, उन्होंने 19 जनवरी 1858 को फांसी देने के बाद हुकुमचंद जैन को दफनाया जबकि मुनीर बेग को जलाया गया। अंग्रेजों द्वारा किए गए इस कुकर्म का एकमात्र उद्देश्य दो धर्मों के अनुयाइयों की एकता का मज़ाक उड़ाना और उन्हें जलील करना।

फ़्रिंगियों ने एक और शर्मनाक काम यह किया कि, बहादुर हुकुमचंद जैन के 13 वर्षीय भतीजे फ़कीरचंद जैन को भी हांसी में सार्वजनिक तौर पर फांसी दी क्योंकि की इस बच्चे ने उन्हें फांसी देने का विरोध किया था।

अयोध्या

अयोध्या स्वतंत्र भारत में हिंदू-मुसलमानों के बीच में नफ़रत फैलाने का एक बड़ा मुद्दा बनकर उभरा है। बाबरी मस्जिद-रामजन्म भूमि विवाद ने दोनों संप्रदायों के बीच में अविश्वास और हिंसा के माहौल को निर्मित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। लेकिन 1857 में इसी अयोध्या में किस तरह मौलवी और महंत व साधारण हिंदू-मुसलमान-सिख अंग्रेज़ी राज के खिलाफ़ एक होकर लड़ते हुए फांसी के फंदों पर झूल गए इसकी अनगिनत दास्तानें हैं।

मौलाना अमीर अली अयोध्या के एक मशहूर मौलवी थे और जब वहां के प्रसिद्ध हनुमान गढ़ी मंदिर के पुजारी बाबा रामचरण दास ने अंग्रेज़ों के साथ एक युद्ध में दोनों को बंदी बनाया गया और अयोध्या में कुबेर टीले पर एक इमली के पेड़ पर एक साथ फांसी पर लटका दिया गया।

अयोध्या ने ही इस संग्राम के दो विभिन्न धर्मों से संबंध रखने वाले दो और ऐसे नायक पैदा किए जिन्होंने अंग्रेज़ फ़ौज को नाकों चने चबवा दिए। अच्छन ख़ान और शम्भु प्रसाद शुक्ला दो दोस्त थे जिन्होंने ज़िला फैजाबाद में राजा देबीबक्श सिंह की क्रांतिकारी सेना की कमान संभाली हुई थी। एक युद्ध के दौरान इनको बंदी बनाया गया, और, समकालीन सरकारी दस्तावेज़ इस शर्मनाक सच्चाई को उजागर करते हैं कि इन दोनों क्रांतिकारियों की जान लेने से पहले भयानक यातनाएं दी गईं और दोनों के गले सार्वजनिक रूप से रेतें गए।

अयोध्या जिसने हिंदू-मुसलमान एकता के पौधे को खून से सींचा था वो स्थली बाद में क्यों अंग्रेज़ शासकों की फूट डालो और राज करो नीति का एक मुख्य मुक़ाम बनकर उभरी, इसको समझना ज़रा भी मुश्किल नहीं है।

राजस्थान

कोटा रियासत (अब राजस्थान में) पर अंग्रेज़-परस्त महाराव का राज था। यहां के एक राज दरबारी थे, राजा जयदलाल भटनागर जो उर्दू-फ़ारसी और अंग्रेज़ी भाषाओं पर समान महारत रखते थे। इन्होंने महाराव और अंग्रेज़ शासकों के खिलाफ़ बगावत का झंडा बुलंद किया। इस विद्रोह में इनका साथ देने वालों में प्रमुख थे, वहां के सेनापति मेहराब खान। इन लोगों ने मिलकर देश भर के अन्य क्रांतिकारी समूहों से संपर्क स्थापित किया और कोटा में अंग्रेज़ अधिकारियों और सैनिकों पर हमला बोला। बाद में ये लोग लक्ष्मीबाई के साथ कई मोर्चों पर अंग्रेज़ सेना से लोहा लेते रहे। लाला जयदलाल 1860 तक अंग्रेज़ों के हाथ नहीं लगे लेकिन उसी साल 15 अप्रैल को जयपूर में गिरफ़्तार किए गए और कोटा में 17 सितंबर 1860 को फांसी पर लटकाए गए। मेहराब खान को भी अंग्रेज़ 1860 में ही गिरफ़्तार कर सके और उन्हें भी कोटा में सार्वजनिक रूप से फांसी दी गई।

केंद्रीय भारत

मालवा : मध्यप्रदेश के मालवा क्षेत्र में अंग्रेज़ फ़ौजों को लगातार छकाने वाली जो इंकलाबी सेना सक्रिय रही उसके साझे नायक तात्या टोपे, राव साहब, फ़िरोज़शाह और मौलवी फ़ज़ल हक़ थे। इन लोगों ने मिलकर अंग्रेज़ों से जितनी लड़ाइयां जीतीं उस तरह की मिसालें कम ही मिलती हैं। मौली फ़ज़ल हक़ अपने 480 हिंदू-मुसलमान-सिख साथियों के साथ 17 दिसंबर, 1858 को रानौड़ के युद्ध में शहीद हुए। तात्या टोपे 1859 तक स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व करते रहे और 18 अप्रैल, 1859 को ग्वालियर के सिंध्या राजघराने की गद्दारी की वजह से बंदी बनाए गए और सिंध्या की रियासत में स्थित शिवपुरी में फांसी पर लटकाए गए। फ़िरोज़शाह कभी भी अंग्रेज़ों के हाथ नहीं आए।

झांसी : मध्यभारत में रानी लक्ष्मीबाई के इंकलाबी प्रतिरोध से सभी वाकिफ़ हैं। लेकिन बहुत लोग यह नहीं जानते हैं कि रानी लक्ष्मीबाई के तोप खाने के मुखिया एक पठान, गुलाम ग़ौस खान थे। रानी की घुड़सवार सेना के मुखिया भी एक मुसलमान खुदाबख़्श थे। जब झांसी पर अंग्रेज़ों ने हमला बोला तो झांसी के किले में रानी की सेना का नेतृत्व करते हुए दोनों 4 अप्रैल, 1858 को शहादत पा गए। इस सच्चाई से भी बहुत कम लोग वाकिफ़ हैं कि लक्ष्मीबाई की निजी सुरक्षा अधिकारी एक मुसलमान महिला मुंदार [मुंजर] थीं। उन्होंने रानी का साया बनकर झांसी, कूच, कालपी और ग्वालियर के युद्धों में अंग्रेज़ी सेना का मुकाबला किया। कोटा-की-सराए (ग्वालियर) युद्ध में वे लड़ते हुए रानी के साथ (17 जून, 1858) शहीद हुईं।

रूहेल खंड

रूहेल खंड के इलाके में खान बहादुर खान के नेतृत्व में बहादुरशाह ज़फ़र की सरकार की सहमति से स्वतंत्र राज स्थापित कर लिया गया था। खान बहादुर खान के मुख्य सहयोगी खुशी राम थे। इन्होंने मिलकर रूहेल खंड का राज काज चलाने के लिए आठ सदस्यों वाली हिंदू और मुसलमानों की साझी समिति का गठन किया। अंग्रेज़ दोनों संप्रदायों के बीच दंगा न करा पाएं, इसके लिए एक हुकमनामे के द्वारा गौ-वध पर प्रतिबंध लगा दिया गया। दिल्ली में इंकलाबी शासन के पतन के बाद अंग्रेज़ों ने अपना निशाना रूहेल खंड को ही बनाया। खान बहादुर खान, खुशीराम और उनके 243 सहयोगियों को एक ही दिन (24 मार्च, 1860) को बेलेली कमीश्ररी के सामने सामूहिक फांसी दी गई। अंग्रेज़ शासकों ने इन क्रांतिकारियों की अंत्येष्टि करने पर भी प्रतिबंध लगा दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि इनके शव बहुत दिनों तक सूलियों पर झूलते रहे।

एक ही क्रस्वे थाना भवन की 14 शहीद औरतें

भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में रानियों ने ही हिस्सेदारी नहीं की, बल्कि बड़ी संख्या में साधारण परिवारों से आने वाली महिलाओं ने भी अपने

खून से इस धरती को सींचा। 1857 की 'बगावत' से संबंधित जो दस्तावेज सरकारी अभिलेखागारों में सुरक्षित रखे हैं, उनमें उन हजारों इंकलाबी महिलाओं के नाम दर्ज हैं, जिन्होंने इस स्वतंत्रता संग्राम में अंग्रेजों के खिलाफ हथियार उठाए और अपने प्राणों की आहुति दी।

पश्चिमी उत्तरप्रदेश के मुजफ्फरनगर जिले में ही 50 से ज्यादा महिलाओं ने आज़ादी के लिए मौत को गले लगाया। इनमें से 14 इंकलाबी औरतों को तो एक ही क्रम में, थाना भवन में शहीद किया गया। थाना भवन की नायिकाओं के नाम और उनके बेमिसाल कारनामों यहाँ प्रस्तुत हैं:

असारी बेगम 1811 में एक सयैद परिवार में जन्मी थीं और थाना भवन के इलाक़े में अंग्रेज विरोधी कार्यवाइयों में नेतृत्व कारी भूमिका निभाती रहीं। इन्हें 1858 के अंत में अंग्रेजों ने एक युद्ध में बंदी बनाया और ज़िंदा जला दिया। इनके दोनों बेटे भी शहीद हुए। इसी क्षेत्र से एक और इंकलाबी महिला आशा देवी थीं। इनका जन्म 1829 में एक गूजर परिवार में हुआ था। ये भी हथियार थामे अंग्रेज सेना से लोहा लेती रहीं। 1857 के अंत में बंदी बनाई गईं और फांसी दे दी गईं। 1819 में जन्मी बाज़तावरी ज़िला मुजफ्फरनगर के बाखरा गाँव की रहने वाली थीं। कई युद्धों में बहादुरी से लड़ीं, लेकिन 1857 के अंत में अंग्रेजों द्वारा गिरफ्तार कर ली गईं और सूली पर चढ़ा दी गईं।

इसी क्षेत्र की एक और इंकलाबी नौजवान महिला भगवती देवी थीं, जो त्यागी परिवार में 1834 में पैदा हुई थीं। उन्हें भी अंग्रेजों के विरुद्ध हथियार उठाने के जुर्म में 1857 में फांसी पर लटका दिया गया। इसी इलाके से हबीबा एक और इंकलाबी थीं, जिनका जन्म 1833 में हुआ था। इनका संबंध एक मुसलमान गूजर परिवार से था। उन्होंने भी अंग्रेजी सेना के खिलाफ मुजफ्फरनगर के आसपास विभिन्न युद्धों में हिस्सा लिया और 13 अन्य इंकलाबी महिलाओं के साथ फांसी पर लटकाई गईं। एक अन्य नौजवान लड़ाकू महिला इन्द्रकौर, 1831 में जाट परिवार में जन्मीं ने भी थाना भवन में अंग्रेजी शासन के खिलाफ हथियार उठाये और फांसी के फंदे को चूमा। थाना भवन की ही एक और इंकलाबी महिला जमीला जो 1835 में एक पठान परिवार में जन्मीं थीं। उन्होंने भी देश की आज़ादी के लिए लड़ते हुए अपनी जान कुर्बान की।

महिलाओं की महान कुर्बानियों का यह सिलसिला बहुत लम्बा है। एक और अन्य इंकलाबी महिला, मामकौर एक चरवाहे परिवार में जन्मीं, जिन्होंने 1857 की क्रांति के आरंभिक दौर में ही फांसी के फंदे को चूमा। इसी क्षेत्र से अंग्रेजों के खिलाफ पहले स्वतंत्रता संग्राम में कुछ और जान देनेवाली प्रमुख महिलाओं के नाम हैं: 1829 में राजपूत परिवार में जन्मीं रहीमी, राजपूत परिवार में ही 1833 में जन्मीं राजकौर, 1832 में ब्राह्मण परिवार में जन्मीं शोभादेवी और 1831 में जन्मीं उम्दा [जाट परिवार].....

बीबी और भगवानी।

थाना भवन में औरतों की रहनुमाई में अंग्रेज हकूमत के खिलाफ छेड़ी गयी हत्यारबंद जंग कितनी शिद्दत से लड़ी गयी थी और गोरी हकूमत कितना खौफ़ खाये हुए थी इस का अंदाज़ा उस समय के एक अहम सरकारी दस्तावेज में इन अलफ़ाज़ को पढ़ कर किया जासकता है:

“थाना भवन में बगावत के फ़ौरन बाद [अंग्रेजी] फ़ौज ने उस पर हमला किया। लेकिन हार का सामना करना पड़ा, 21 फ़ौजियों के मारे जाने और 21 के ज़ख्मी होने की वजह से मुजफ्फरनगर लौटना पड़ा। मेरठ से और फ़ौजी कुमक मिलने के बाद थाना भवन पर फिर हमला किया गया। यह पाया गया कि बागी थाना भवन छोड़ कर भाग गए हैं। शहर के तमाम दरवाज़ों और दीवारों को ढा दिया गया।”

विलियम रसल लंदन के एक अख़बार ‘द टाइम्स’ का संवाददाता बनकर ‘बगावत’ का आँखों-देखा हाल भेजने के लिए भारत आया था। उसने मार्च 2, 1858 को भेजी गई अपनी रपट में लिखा कि-

“बागी फ़ौज में कम से कम 60 हजार तनखा-दार सिपाही हैं, और 70 हजार अनियमित सिपाही और बंदूकधारी हैं। अवध के तमाम मुख्य सरदार चाहे वे मुसलमान हो या हिंदू, एक हो गए हैं और शपथ ले चुके हैं कि वे अपने नौजवान बादशाह, बिरजिस क्रदर कदर के लिए अपने खून का आखरी कतरा भी बहा देंगे।”

एक अन्य अंग्रेज अफ़सर, थामस लो ने मध्य भारत में अंग्रेज सेना के अभियानों में लगातार हिस्सेदारी की थी। उस क्षेत्र में ‘बागियों’ की स्थिती का वर्णन करते हुए उसने अपने संस्मरणों में लिखा कि,

“शिशु हत्या करने वाले राजपूत, संकीर्ण ब्राह्मण, धर्मांध मुसलमान राजपूत, ब्राह्मण, मुसलमान और...मराठे, गाय के हत्यारे और गाय के पुजारी, सुअर से नफ़रत करने वाले और सुअर खाने वाले, ‘अल्लाह परमेश्वर है और मुहम्मद उसके पैग़म्बर हैं’, और ‘ब्रह्म के रहस्यों को बुदबुदाने वाले’ सभी लोग इस काम [जंग] में [हमारे खिलाफ़] एक साथ हो गए थे।”

फ्रेड राबर्ट्स, एक अंग्रेज सेना-नायक था जो लखनऊ पर कब्ज़ा करनेवाले अभियान में शामिल था। यहां भी अंग्रेज सेना, जासूसों और षडयंत्रों की मदद से लखनऊ में दाखिल हो सकी थी। फ्रेड ने लखनऊ में सिकन्दरबाग़ महल पर आक्रमण की नवम्बर 25, 1857 की दास्तान एक पत्र में बयान करते हुए लिखा कि जब वे सिकन्दरबाग़ महल में दाखिल हुए तो,

“लगभग 2 हजार बागी सिपाही ज़मीन पर पड़े थे, मुर्दा या मरते हुए। मैं ने अपनी जिन्दगी में ऐसा नज़ारा कभी नहीं देखा था। उनका अम्बार लगा था। जब मैं अंदर गया वे गहरी साँसें ले रहे थे, कुछ मर चुके थे लेकिन ज्यादातर ज़ख्मी थे और ज़ख्मों की वजह से उठ नहीं पा रहे थे। यह सब

एक साथ यहाँ कैसे घिर गए थे, मैं समझ नहीं पा रहा था। दालान से गुजरते उनपर चलकर जाना होता था। वे मरते हुए भी हमारे प्रति अपनी नफ़रत का इज़हार कर रहे थे और गालियाँ बकते हुए कह रहे थे 'हम बस खड़े हो जाएं फिर तुम्हें ज़िंदा नहीं छोड़ेंगे'।"

खराब से खराब हालात में भी हिंदू-मुसलमान-सिख इस तरह की साझी शहादतों की अनगिनत मिसालें पूरे देश में पेश कर रहे थे। यह एकता का जज़्बा किस दर्जे का था उस का अंदाज़ा 1857 की जंग-ए-आज़ादी के इस उर्दू तराने से लगाया जा सकता है जो इस महान संघर्ष के प्रमुख रणनीतिकारों में से एक अज़ीमुल्लाह खान ने रचा था। यह तराना इंकलाबी सेना का सलामी गीत भी था और दिल्ली से छपने वाले उर्दू अख़बार 'पैयाम-ए-आज़ादी' में 13 मई 1857 को छपा था।

हम हैं इसके मालिक हिंदुस्तान हमारा

पाक वतन है क्रौम का जन्म से भी प्यारा।

यह हमारी मिल्कियत हिंदुस्तान हमारा

इसकी रूहानियत [आध्यात्मिकता] से रोशन है जग सारा।

कितना क़दीम [प्राचीन], कितना नईम [सुखद] सब दुनिया से न्यारा
करती है ज़रखेज [उपजाऊ] जिसे गंगो-जमन की धारा।

ऊपर बर्फ़ीला पर्वत पहरेदार हमारा

नीचे साहिल पर बजता सागर का नक्क़ारा।

इसकी खानें उगल रहीं सोना, हीरा, पन्ना

इसकी शान-शौकत का दुनिया में जयकारा।

आया फ़िरंगी दूर से, ऐसा मंतर मारा

लूटा दोनों हाथों से प्यारा वतन हमारा।

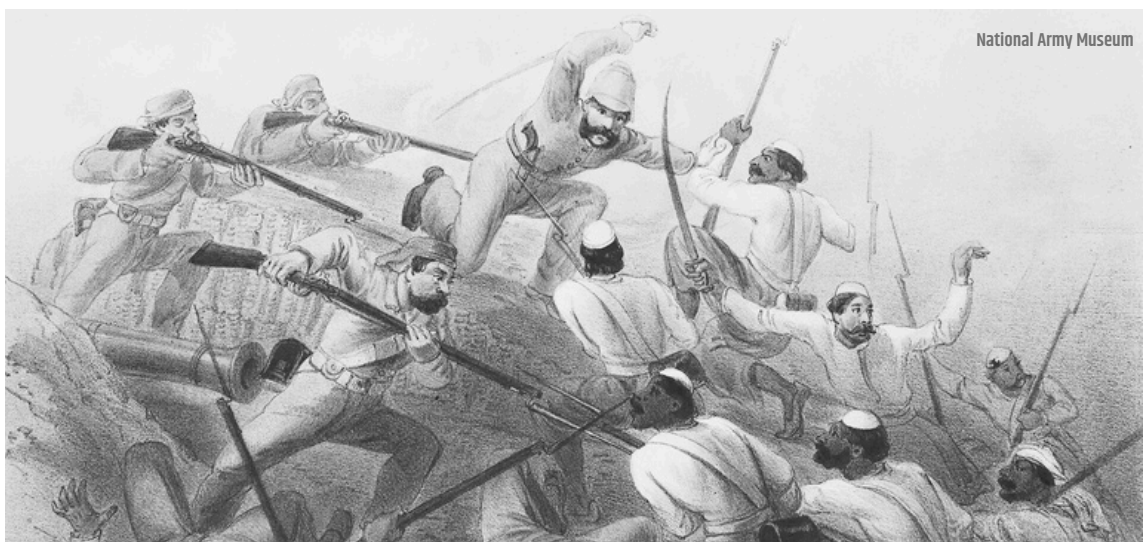
आज शहीदों ने तुमको, अहले-वतन ललकारा

तोड़ो ग़लामी की जंजीरें, बरसाओ अंगारा।

हिंदू-मुसलमान, सिख हमारा भी प्यारा-प्यारा

यह है आज़ादी का झंडा इसे सलाम हमारा।

हिंदू-मुसलमानों का एक-दूसरे के लिए मर-मिटने की दास्तानों का यह गौरवशाली इतिहास 168 साल पहले सचमुच में अस्तित्व में था। इसकी आज भी पुष्टि की जा सकती है। ये सच्चाईयाँ अंग्रेज़ी हुकूमत के अभिलेखागारों, लोगों के निजी संग्रहों और वृत्तांतों में सुरक्षित हैं। इस देश के हिंदू और मुसलमानों के बीच नफ़रत क्यों पैदा कराई गयी और किन लोगों ने इसको हवा दी इस बात को समझना ज़रा भी मुश्किल नहीं है। फ़िरंगियों का मानना था, जैसा कि उस समय के एक बड़े अंग्रेज़ अफ़सर, चार्ल्स मेटकाफ़, ने कहा था कि "1857 का विद्रोह हिंदुओं और मुसलमानों का साझा काम था।" इस तरह स्वाभाविक है कि 1857 के संग्राम में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच जबर्दस्त एकजुटता ने विदेशी शासकों की नींद हराम कर दी थी और उनकी हुकूमत खत्म होने का खतरा सर पर मंडरा रहा था। इस खतरे को हमेशा के लिए तभी टाला जा सकता था जब हिंदू और मुसलमान अलग-अलग दिशाएँ पकड़ें। हिंदू और मुसलमान सांप्रदायिकता के झंडाबरदारों ने वास्तविकता में अंग्रेज़ शासकों की मदद करने के अलावा और कोई दूसरा काम नहीं किया है। हमें आज इस सच्चाई को क़तई नज़रअंदाज नहीं करना चाहिए कि आज की साम्प्रदायिक राजनीति दरअसल 1857 के दौरान हिंदू-मुसलमान-सिख एकता से परेशान अंग्रेज़ हाकिमों का पैतरा था जिसे हिंदुस्तानी चाकरों ने कार्यान्वित किया और मौजूदा हिन्दुत्वादी सरकार नंगे रूप से कर रही है। इस का मुकाबला 1857 की महान साझी शहादतों से उपजी साझी विरासत की यादों को ताज़ा करके ही किया जा सकता है। ●



Repulse of a rebel sortie on the Delhi Ridge, 1857

WHY 10 MAY DESERVES A GRAND COMMEMORATION

■ Akash Bhattacharya

10 May 2025 marked the 168th anniversary of the Revolt of 1857. It went rather unnoticed, as usual. While the Revolt has attained iconic status as the first war of independence, its role as an act of nation-making remains overlooked. This is partly due to historical oversight and partly due to deliberate attempts to manipulate its historical memory.

The rebel leaders set forth the ideal of national sovereignty vis-à-vis European colonial rule. They imaged the nation as plural and diverse; its cartographic template broadly corresponded to undivided India.

The Revolt produced the earliest known articulation of a modern sovereign Indian political identity, in the form of Azimullah Khan's iconic composition: Hum Hai Iske Malik, Hindustan Humara. Composed by a Muslim leader, it spoke about an Indian identity based on unity of all religions and communities, especially between Hindus and Muslims. The song was infused with the spirit of unity that guided the Revolt: Hindus and Muslims chose each other as leaders, and fought shoulder to shoulder against a colonizing force.

Other than the Hindu-Muslim unity, the Revolt also stood out for its mass character, social diversity and unprecedented scale. All these together shocked the Britishers. The British Crown ended Company rule and started governing India directly after suppressing the Revolt.

From here onwards, they deliberately introduced ideas of racial superiority and racial

segregation as dominant ideologies of the empire. The Indians now came to be projected as barbaric, as people who must be controlled. This was a way of suppressing India's political agency whose powerful display almost cost the British the empire in 1857.

1857 onwards, we find a conscious effort by the British government to divide Indians on religious lines as a matter of policy. Religious fault-lines were deliberately played up in the post-1857 colonial discourse, and religious conflict came to be projected as a key element of Indian "barbarism".

Despite the Revolt's composite character, or rather because of it, the Britishers blamed the Muslim community for conspiring to destabilize their rule, and began to exclude them from the freshly constituted structures of governance. At the same time, they pretended to be benevolent to Hindus, and attempted to "befriend" Hindus as a community. This created a political and economic chasm between the two communities, and eventually tore the country apart.

Far from being a revolt of a few disgruntled kings, queens and feudal lords, 1857 was a national uprising of peasants whether in soldiers' uniforms or without, artisans and small traders, and other sections of the Indian people cutting across caste and creed. The appointment of the titular Mughal ruler as the leader was nothing more than a tactical move. While several Indian princes played a major role in eventually betraying the rebels, the princes who emerged as rebel leaders invariably connected with the masses. Kunwar

Singh from Bihar is a good example. He led a mass rebellion in Shahabad, which was remarkable for the armed guerrilla warfare of peasantry against imperialism, its Hindu-Muslim unity, and its spirit of democratic equality towards the peasant masses and oppressed castes.

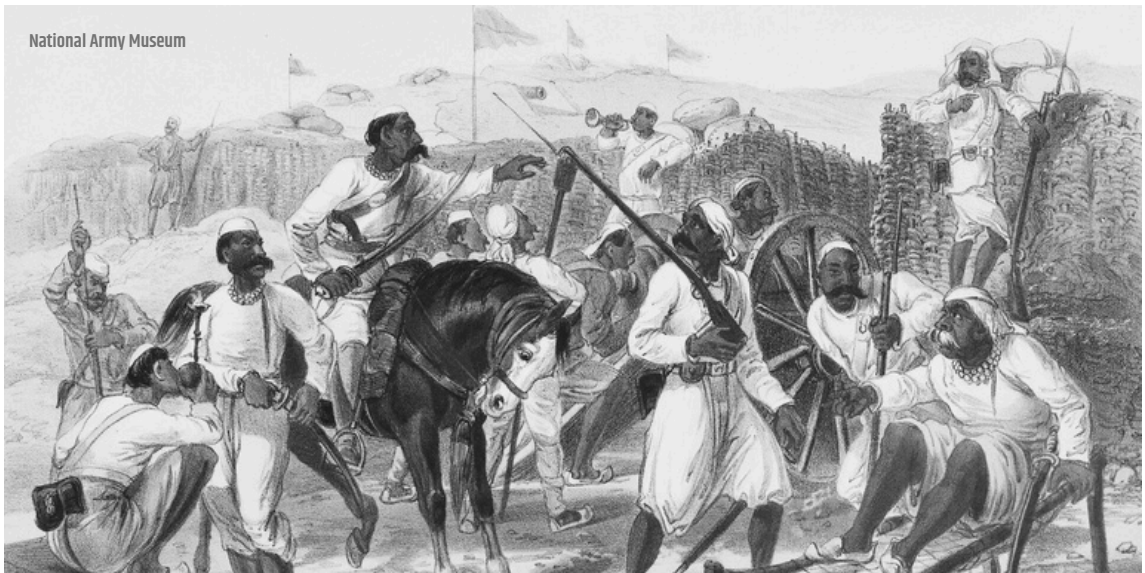
The mass character of the Revolt arose from the events which preceded it. For almost two decades preceding the Revolt, its epicentres had witnessed militant movements of Adivasi peasants against the colonial-feudal nexus of exploitation and oppression.

The Revolt of 1857 was followed by several such movements such as the Santhal rebellions which presaged the worker-peasant-Adivasi agitations of the 1920s and 1930s. The Revolt was thus a precursor to the 20th century freedom struggle in which revolts against societal exploitation combined with revolts against colonial rule and tireless efforts to build Hindu-Muslim unity, to create a nationalist mass consciousness that accepted justice, equality and fraternity as central

objectives of nation-making.

Not only the British but also Indian feudal forces were taken aback by the scale and diversity of the Revolt. VD Savarkar was among those uncomfortable ones. His much-celebrated book on the Revolt of 1857 downplayed its mass character, overlooked the peasant and Adivasi rebellions it gave birth to, and portrayed Hindu-Muslim unity as a tactical rather than principled move by the rebels.

Given that Savarkar's worshippers are now ruling the country, no wonder their aggressive nationalism has little space for the Revolt of 1857 except its manipulative commemoration by VD Savarkar. Unwilling to accept a deeply plural and diverse popular movement as a foundational moment of the modern Indian nation, Hindutva narratives of the nation's origin hark back to an ancient "Hindu" Brahminical past. It becomes important for today's secular, democratic forces to commemorate the Revolt of 1857 as not only a war of independence but also as a foundational act of nation-making. ●



Rebel sepoys, 1857

THE REVOLT IN THE INDIAN ARMY

■ Karl Marx

This article by Karl Marx was published in the New-York Tribune on June 15th, 1857, and was transcribed by Tony Brown, accessed from the Marxist Internet Archive. It is being reproduced here to understand the historical context of India as viewed by Karl Marx, who was observing the freedom struggle closely

The Roman Divide et impera was the great rule by which Great Britain, for about one hundred and fifty years, contrived to retain the tenure of her Indian empire. The antagonism of the various races, tribes, castes, creeds and sovereignties, the aggregate of which forms the geographical unity of what is called India, continued to be the vital principle of British supremacy. In later times, however, the conditions of that supremacy have undergone a change. With the conquest of Scinde and the Punjab, the Anglo-Indian empire had not only reached its natural limits, but it had trampled out the last vestiges of independent Indian States. All warlike native tribes were subdued, all serious internal conflicts were at an end, and the late incorporation of Oude proved satisfactorily that the remnants of the so-called independent Indian principalities exist on sufferance only. Hence a great change in the position of the East Indian Company. It no longer attacked one part of India by the help of another part, but found itself placed at the head, and the whole of India at its feet. No longer conquering, it had become the conqueror. The armies at its disposition no longer had to extend its dominion, but only to maintain it. From soldiers they were converted into policemen, 200,000,000 natives being curbed by a native army of 200,000 men, officered by Englishmen, and that native army, in its turn, being kept in check by an English army numbering 40,000 only. On first view, it is evident that the allegiance of the Indian people rests on the fidelity of the native army,

in creating which the British rule simultaneously organized the first general center of resistance which the Indian people was ever possessed of. How far that native army may be relied upon is clearly shown by its recent mutinies, breaking out as soon as the war with Persia had almost denuded the Presidency of Bengal of its European soldiers. Before this there had been mutinies in the Indian army, but the present revolt is distinguished by characteristic and fatal features. It is the first time that sepoy regiments have murdered their European officers; that Mussulmans and Hindoos, renouncing their mutual antipathies, have combined against their common masters; that “disturbances beginning with the Hindoos, have actually, ended in placing on the throne of Delhi a Mohammedan Emperor;” that the mutiny, has not been confined to a few localities; and lastly, that the revolt in the Anglo-Indian army has coincided with a general disaffection exhibited against English supremacy on the part of the great Asiatic nations, the revolt of the Bengal army being, beyond doubt, intimately connected with the Persian and Chinese wars.

The alleged cause of the dissatisfaction which began to spread four months ago in the Bengal army was the apprehension on the part of the natives lest the Government should interfere with their religion. The serving cut of cartridges, the paper of which was said to have been greased with the fat of bullocks and pigs,

and the compulsory biting of which was, therefore, considered by the natives as an infringement of their religious prescriptions, gave the signal for local disturbances. On the 22nd of January, an incendiary fire broke out in cantonments a short distance from Calcutta. On the 25th of February the 19th native regiment mutinied at Berhampore the men objecting to the cartridges served out to them. On the 31st of March that regiment was disbanded; at the end of March the 34th sepoy regiment, stationed at Barrackpore, allowed one of its men to advance with a loaded musket upon the parade-ground in front of the line, and, after having called his comrades to mutiny, he was permitted to attack and wound the Adjutant and Sergeant-Major of his regiment. During the hand-to-hand conflict, that ensued, hundreds of sepoys looked passively on, while others participated in the struggle, and attacked the officers with the butt ends of their muskets.

Subsequently that regiment was also disbanded. The month of April was signalized by incendiary fires in several cantonments of the Bengal army at Allahabad, Agra, Umballah, by a mutiny of the 3d regiment of light cavalry at Meerut, and by similar appearances of disaffection in the Madras and Bombay armies. At the beginning of May an emeute was preparing at Lucknow, the capital of Oude, which was, however, prevented by the promptitude of Sit. H. Lawrence. On the 9th of May the mutineers of the 3d light cavalry of Meerut were marched off to jail, to undergo the various terms of imprisonment to which they were sentenced. On the evening of the following day the troopers of the 3d cavalry, together with the two native regiments, the 11th and 20th, assembled upon the parade-ground, killed the officers endeavoring to pacify them, set fire to the cantonments, and slew all the Englishmen they were able to lay hands on. Although the British part of the

brigade mustered a regiment of infantry, another of cavalry, and an overwhelming force of horse and foot artillery, they were not able to move until nightfall. Having inflicted but little harm on the mutineers, they, allowed them to betake themselves to the open field and to throw themselves into Delhi, some forty miles distant from Meerut. There they were joined by the native garrison, consisting of the 38th, 54th and 74th regiments of infantry, and a company of native artillery. The British officers were attacked, all Englishmen within reach of the rebels were murdered. and the heir of the late Mogul of Delhi proclaimed King of India. Of the troops sent to the rescue of Meerut, where order had been re-established, six companies of 15th of May, native sappers and miners, who arrived on the murdered their commanding officer, Major Frazer, and made at once for the open country, pursued by troops of horse artillery and several of the 6th dragoon guards. Fifty or sixty of the mutineers were shot, but the rest contrived to escape to Delhi. At Ferozepore, in the Punjaub, the 57th and 45th native infantry regiments mutinied, but were put down by force. Private letters from Lahore state the whole of the native troops to be in an undisguised state of mutiny. On the 19th of May, unsuccessful efforts were made by the sepoys stationed at Calcutta to get possession of Fort St. William. Three regiments arrived from Bushire at Bombay were at once dispatched to Calcutta.

In reviewing these events, one is startled by, the conduct of the British commander at Meerut his late appearance on the field of battle being still less incomprehensible than the weak manner in which he pursued the mutineers. As Delhi is situated on the right and Meerut on the left bank of the Jumna—the two banks being joined at Delhi by one bridge only — nothing could have been easier than to cut off the retreat of the fugitives.

Meanwhile, martial law has been proclaimed in all the disaffected districts; forces, consisting of natives mainly, are concentrating against Delhi from the north, the east and the south; the neighboring princes are said to have pronounced for the English; letters have been sent to Ceylon to stop Lord Elgin and Gen. Ashburnham's forces, on their way to China; and finally, 14,000 British troops were to be

dispatched from England to India in about a fortnight. Whatever obstacles the climate of India at the present season, and the total want of means of transportation, may oppose to the movements of the British forces, the rebels at Delhi are very likely to succumb without any prolonged resistance. Yet, even then, it is only the prologue of a most terrible tragedy that will have to be enacted. ●

क्यों डरती रही हैं भारत की सरकारें 1857 से

■ प्रो. प्रणय कृष्ण

भारतीय राष्ट्र के जन्मकाल की प्रसव पीड़ा का प्रतीक था, 1857 का विद्रोह. संभवतः कार्ल मार्क्स वह पहले इन्सान थे, जिन्होंने इसे भारत का पहला स्वाधीनता संग्राम कहा था. दरअसल भारतीय राष्ट्र की ओर से अंग्रेजों से आजादी पाने और अपने आप को राष्ट्र के रूप में गठित करने की यही पहली कोशिश थी. इससे पहले हिंदुस्तान नाम का भूखंड था. वह अनेकों बादशाह-नवाबों, राजा-महाराजाओं आदि के राज्यों में बंटा था. उस दौर में चाहे राणा प्रताप और शिवाजी जैसे हिंदू मुगल बादशाह से या हिंदू और मुसलमान सामंत आपस में ही क्यों न लड़ते हों, सभी का उद्देश्य अपनी-अपनी रियासत का बचाव करना होता था. बस उतना ही भूखंड उनका देश था या उनकी मातृभूमि थी, जिसके वे अन्नदाता कहलाते थे. अंग्रेजों ने एक-एक करके इन रियासतों को अपने कब्जे में या अपनी छत्रछाया में ले लिया था. अंग्रेज किसी एक हिंदुस्तानी से लड़ते थे तो दूसरा हिंदुस्तानी सामंत उनकी मदद करता था.

जैसे 1857 के विद्रोह के बस 50-60 साल पहले जब अंग्रेज टीपू सुलतान के खिलाफ लड़ रहे थे तो उन्होंने मराठों और निजाम को अपने पक्ष में कर रखा था. राष्ट्र नाम की कोई चेतना होती तो टीपू सुलतान के साथ मराठों, निजाम और दिल्ली दरबार का एक संश्रय बन गया होता और उसने अंग्रेजों ही नहीं फ्रांसिसियों, डचों, पुर्तगालियों आदि तमाम उपनिवेशवादियों को हिंदुस्तान से निकाल बाहर किया होता. पिछले इतिहास में 1857 का फर्क सबसे बढ़ कर इसी बात में है कि इसके दौरान पूब से लेकर पश्चिम तक हिंदुस्तान की आम अवाम अंग्रेजों के खिलाफ इसी चेतना के साथ संघर्ष में उतरी कि वे बाहरी ताकत हैं जो हमारे देश को गुलाम बना रहे हैं. यह चेतना उन हजारों-हजार किसानों में फैली थी जो अंग्रेजी उपनिवेशवाद से हथियारबंद होकर लड़े थे. यानी उसका मूल

चरित्र किसान विद्रोह का था. इसे शुरू करनेवाले थे अंग्रेजी सेना के भारतीय सिपाही, जो उत्तर भारत के ग्रामीण किसान पृष्ठभूमि से आते थे.

इस विद्रोह का नाभिकेंद्र अवध प्रांत था. लेकिन इस विद्रोह के आगोश में समूचा हिंदी-उर्दू क्षेत्र आ गया और साथ ही इसका असर पंजाब, बंगाल, महाराष्ट्र, असम, झारखंड के आदिवासी अंचल तथा सुदूर दक्षिण में गोदावरी जिले तक फैला. भले ही इस विद्रोह को कोई सुसंगठित अखिल भारतीय नेतृत्व न प्राप्त रहा हो, लेकिन राजनीतिक रूप से 1857 का संग्राम भारतीय स्तर के राष्ट्रीय आंदोलन का सूचक था.

यूं तो इस विद्रोह की शुरुआत मंगल पांडे ने 29 मार्च 1857 को कलकत्ता के पास बैरकपुर छावनी में कर दी थी, किंतु इसकी विधिवत शुरुआत 10 मई, 1857 को मेरठ छावनी में हिंदुस्तानी पलटन के विद्रोह से मानी जाती है. 1857 से 1859, तीन वर्षों तक अंग्रेजों के खिलाफ खुला छापामार युद्ध चला, जिसमें सैनिकों और किसानों के साथ-साथ समाज के सभी वर्गों ने यहां तक कि देशभक्त सामंतों ने भी हिस्सा लिया. झांसी में कोरी और कांछी तथा लखनऊ में सुगों की लड़ाई में पासियों की अद्भुत वीरता से लेकर सिंहभूम और मानभूम के आदिवासियों की शौर्य की गाथाएं इतिहास में दर्ज हैं.

इस विद्रोह में हजारों अनाम शहीद समाज के उंचे वर्गों या वर्णों से ही नहीं निचले वर्गों व वर्णों से भी थे. सिंधिया, पटियाला, नाभा, जींद तथा कश्मीर व नेपाल जैसे गद्दार राजे-रजवाड़े के सहयोग से अंग्रेजों को इस विद्रोह को कुचलने में सहायता जरूर मिली, लेकिन भारतीय राष्ट्र की नींव पड़ चुकी थी. इसलिए राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम को कुचलना अब

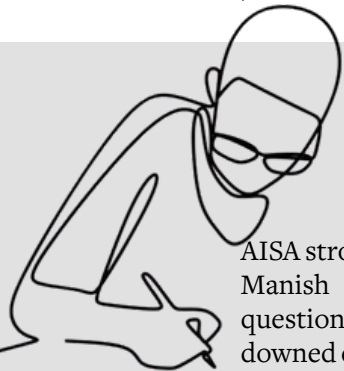
अंग्रेजों के बूते की बात नहीं रही। 1857 के विद्रोह को कुचलने के बाद भी अंग्रेज उस विद्रोह को बदनाम करने, उसके महान योद्धाओं के चरित्र हनन करने तथा उसे भारतीय जनता की सामूहिक स्मृति से मिटा देने की लगातार कोशिश करते रहे।

19वीं सदी के अंतिम भाग से लेकर 20वीं सदी के मध्य तक जो स्वाधीनता संग्राम कांग्रेसी नेतृत्व में चला, उस पर समझौतापरस्त उद्योगपति वर्ग और मध्यमवर्गीय बौद्धिक तत्वों का दबदबा रहा। दुर्भाग्य की बात है कि उनके लिए भी 1857 शुरू से ही दुःस्वप्न बना रहा। इसी वजह से कांग्रेसी धारा किसानों, मजदूरों के संगठित क्रांतिकारी आंदोलनों तथा भगत सिंह जैसे क्रांतिकारी देशभक्तों के राष्ट्रवाद से उसी तरह भयभीत रही जैसे कि अंग्रेज, आजादी के आंदोलन की जो कहानी सरकारी तौर पर प्रचारित की जाती रही है, उसके अनुसार देश की आजादी अहिंसात्मक आंदोलन द्वारा प्राप्त की गयी थी। इस कहानी का सीधा सा मतलब यह है कि आजादी के आंदोलन में 1857 से लेकर भगत सिंह और नौसैनिक विद्रोह (1946) तक का कोई खास योगदान नहीं है। साम्राज्यवाद के खिलाफ सशस्त्र और सक्रिय प्रतिरोध से जन्मे किसानों व मजदूरों के तमाम आंदोलनों का कोई खास महत्व नहीं है।

भारत की आजादी में अगर कहीं आम आदमी, मजदूर या किसान को जगह भी दी गयी तो महज संख्या के बतौर, बिना चेहरे के गुमनाम लोगों की संख्या के बतौर।

जाहिर है कि मेहनतकश जनता को न सिर्फ वर्तमान में उनके हक से वंचित किया जा रहा है वरन अतीत में उनकी भूमिका को नकारा भी जा रहा है। आज अपनी इस शानदार विरासत का पुनरुद्धार करने और भारतीय जनता की अस्मिता के न्यायोचित गौरव को पुनर्स्थापित करने का कार्यभार इसलिए भी जरूरी हो उठा है, क्योंकि देश की सत्ता पर काबिज रही ताकतें न सिर्फ हमारे पूरे इतिहास को विकृत करने पर आमादा हैं, बल्कि हमारी राष्ट्रीय भावना को, आजादी के आंदोलन के सारे मूल्यों को ही मटियामेट कर रही हैं।

1857 ने जिस राष्ट्रवाद का आगाज किया था, उसकी विरोधी शक्तियां आजाद भारत में सत्ता के शिखर पर पहुंच चुकी हैं। यानी पहली जंग-ए-आजादी ने नया हिंदुस्तान बनाने की जो चुनौतियां हमारे सामने उपस्थित की थीं, जो लक्ष्य निर्धारित किये थे, जो सपने देखे थे, वे आज न सिर्फ अधूरे हैं, बल्कि सबसे बड़ी बाधा का सामना कर रहे हैं। ●



AISA Condemns the FIR on AISA UP President Manish Kumar

BJP government must stop criminalising the voices that seeks accountability & transparency!

AISA strongly condemns the FIR lodged against the Uttar Pradesh State President Comrade Manish Kumar by the Azamgarh police. His so-called offence: a Facebook post that questioned the Modi government's silence over media reports of Rafale fighter jets being downed during the recent conflict with Pakistan. The FIR absurdly frames this act of legitimate political expression as a criminal offence under Section 353(2) of the Bharatiya Nyaya Sanhita and Section 67 of the IT Act, branding it misleading and obscene. But what Comrade Manish did was to raise a difficult and important question: Why Modi government till now hasn't denied any reports that claim that India lost multiple Rafale jets during conflict? Why has there been no transparency and clarification?

The real obscenity lies not in the words of the people, but in the government's attempt to silence them. Comrade Manish exercised a fundamental right enshrined in our Constitution, freedom of speech and expression. His criminalisation is proof that this government neither believes in constitutional democracy nor has the courage to face scrutiny. To question, to critique, to seek answers, these are not crimes. They are the duties of democratic citizens.

There is a countrywide assault on dissent launched after the Pahalgam attack and Operation Sindoor, and we have to fight back against such oppression. AISA demands the immediate withdrawal of the FIR. We call on all democratic and progressive forces to resist this authoritarian crackdown.



AGAINST ALL ODDS: JNU STUDENTS KEEP DEMOCRACY ALIVE

■ Smriti Choudhary

The Jawaharlal Nehru University Students' Union (JNUSU) elections stand out as a national symbol of student democracy. What happens at JNU reverberates far beyond its walls. When JNU resists, it inspires students everywhere to stand up for their rights and for the idea of a university as a space for free thought and debate.

Student unions have historically played a pivotal role in shaping the cultural and political identity of campuses. From the fight against colonial rule to contemporary struggles for social justice, student activism has been at the heart of India's most significant movements.

As student union elections are systematically dismantled across the country, JNU remains a rare and powerful exception. This year, the

elections turned into a struggle over the university's very essence, pitting the forces of progressive politics against the Admin-ABVP nexus and their authoritarian, regressive agenda.

The stakes could not have been higher. In an era when dissent is criminalized and universities are being corporatized under the guise of the National Education Policy, JNU's students stood up not only for their own rights but for the right of every student to question, to organize, and to dream of a better future.

The BJP-RSS Assault on Campus Democracy

In recent years, the BJP-RSS regime has launched a systematic assault on student democracy across India. The government's

agenda is clear: dismantle independent student unions, suppress dissent, and turn universities into echo chambers for RSS's ideologies.

The ABVP has become the regime's instrument on campuses. Where they cannot win elections fairly, they resort to violence, intimidation, and disruption. At JNU, the ABVP-admin nexus has repeatedly tried to derail elections, intimidate the Election Committee, and replace student-led processes with administration-controlled models. However, the student body has collectively rejected any assault on the democratic ethos of JNU.

This assault is not limited to JNU. Across India, student union elections have been suspended, student activists have been punished or expelled, and university administrations have acted as agents of the BJP government. The National Education Policy (NEP), fund cuts, fee hikes, and the political appointments of faculty are all tools in this campaign to privatise education and silence critical voices.

The ABVP-RSS-BJP regime fears free and fair elections because they know that a united, politicized student body is their greatest obstacle. Their goal is to dismantle the structures of student representation, suppress activism, and turn universities into factories for obedient, uncritical graduates.

Defending JNUSU elections is about more than campus politics. It is about defending the right to dissent, the right to organize, and the very idea of a university as a space for critical inquiry and social transformation.

Admin's Relentless Attempts to Crush Democracy

This year, the JNU admin made a concerted effort to prevent the elections. The admin's tactics were clear: stall elections, exhaust students, and wish for resistance to fizzle out.

However, the students of JNU refused to bow down.

The "Occupy DoS" movement became the defining moment of this struggle. For over 100 hours, students occupied the Dean of Students' office, braving intimidation and threats. The administration even went to the High Court, seeking to have the students forcibly removed, but the court dismissed their plea. The eventual announcement of the election schedule was a victory wrenched from their grasp by the sheer persistence and unity of the student body.

ABVP's Violent Disruption and the Real Threat to Campus

While the administration tried to stall the elections through bureaucracy, the ABVP resorted to violence and intimidation. On the days of nominations and withdrawals, the ABVP vandalised the EC office, by shattering glass windows, tearing down the door of EC office, stone pelting, breaking barricades, and forcefully entering the EC office.

This violence was in line with ABVP's history on campus. Year after year, ABVP's campaign is marked by violence, and their attempt to intimidate the student body from participating in elections, and sabotage the very idea of a free and fair election.

The Left Split: A Test of Principles and Unity

In our battle against the ABVP-Admin nexus in campus, and the larger fight against fascism, it was disheartening that a major challenge came from within the Left itself. For years, the United Left panel had been a powerful front against the ABVP-Admin nexus, uniting diverse progressive forces in a common struggle. But this year, SFI and AISF chose to abandon this legacy, in a move marked by electoral opportunism. This rift began at the site of

“Occupy DoS”, when other progressive forces called off the protest for their own sectarian agenda. This agenda was later reflected in negotiation talks, where SFI insisted that without the post of president, they would not stand by our side in the fight against BJP-RSS.

The AISA-DSF alliance, in contrast, stood firm in its commitment to uncompromising anti-fascist politics, refusing to let ego or power-hunger fracture the student mandate. While others retreated from the ‘Occupy DoS’ protest, and made backroom deals, AISA-DSF carried forward the true legacy of the United Left: clear politics, collective action, and an unwavering focus on defeating the real enemy - the admin-ABVP nexus.

The split was a real danger, threatening to dilute the anti-fascist front at the very moment when unity was most needed. But the students saw through the opportunism and rallied behind the alliance that had proven itself in struggle.

Left Unity Prevails: Students Reject the ABVP-Admin Nexus

Despite all attempts to disrupt, divide, and demoralize, the JNU campus was alive with political energy. Polling day saw nearly 70% of students-about 5,500 out of 7,900-cast their votes.

The results were a resounding rejection of the ABVP-Admin nexus and a vindication of the politics of resistance. The Left alliance-anchored by AISA and DSF-retained its dominance, sweeping three of the four central panel posts:

- President: Nitish Kumar (AISA) – 1,702 votes
- Vice-President: Manisha (DSF) – 1,150 votes
- General Secretary: Munteha Fatima (DSF) – 1,520 votes

The ABVP, despite its violence and admin backing, managed to win only the Joint Secretary post with Vaibhav Meena (1,518 votes), marking their first central panel victory in nearly a decade.

However, this win also signals a warning for JNU’s progressive politics. This win for ABVP is a result of the relentless structural assault by the BJP-RSS regime, which has resulted in an erosion of JNU’s democratic traditions.

This result is a reminder that the forces seeking to dismantle JNU’s legacy of dissent and critical thought are gaining ground. The only way to safeguard this campus from being dragged towards the authoritarian, exclusionary model seen elsewhere is renewed unity and vigilance.

The Battle Continues

The 2024-25 JNUSU elections proved that even in the face of administrative repression, principled unity and relentless struggle can prevail. The AISA-DSF alliance’s victory is a mandate to continue the fight for student rights, social justice, and the defense of campus democracy against all odds.

JNU has once again shown the country what it means to resist. In the face of coordinated attempts to dismantle campus democracy, our resolve has forced open space for dissent and debate, refusing to let intimidation or violence dictate the university’s future.

This election is a reminder to the country: as long as students organize, protest, and hold the line against authoritarianism, the machinery of repression cannot go unchallenged.

The fight is ongoing, but JNU’s message is unmistakable - democratic values are not up for negotiation, and student resistance remains a force that cannot be extinguished. ●

जेएनयूएसयू अध्यक्ष नीतीश कुमार से कुमार दिव्यम की बातचीत

■ कुमार दिव्यम

हाल ही में संपन्न जेएनयू छात्र संघ चुनाव में आइसा की अगुवाई वाली यूनाइटेड लेफ्ट पैनल ने तीनों प्रमुख सीटों अध्यक्ष उपाध्यक्ष तथा महासचिव पर जीत दर्ज की है। आइसा के नीतीश कुमार ने अध्यक्ष पद पर जीत दर्ज किया है। नीतीश बिहार के अररिया जिले के रहने वाले हैं। वामपंथी वोटों में बिखराव के बावजूद आइसा की अगुवाई वाली यूनाइटेड लेफ्ट पैनल ने महत्वपूर्ण जीत हासिल किया है। मौजूदा दौर में जब सांप्रदायिक फासीवादी ताकतें उफान पर हैं और उनकी निरंकुशता बढ़ती जा रही है, तब यह जेएनयू की जीत आज देश भर में चर्चा में है।

आज जब छात्र राजनीति को ले कर बहसें तेज हैं, कैपसों में आरएसएस भाजपा के हमले हैं। शिक्षण संस्थानों के निजीकरण की रफतार तेज हो चली है, शिक्षा और लोकतंत्र पर संकट गहरा रहे हैं, उस दौर में इस जीत के मायने, छात्र राजनीति, तथा जेएनयू में छात्र आंदोलन के विरासत जैसे कई अहम सवालों पर नवनिर्वाचित अध्यक्ष नीतीश से बातचीत नई पीढ़ी ने की है।

नीतीश आप जेएनयू के छात्र संघ के अध्यक्ष हैं, एक छात्र के बतौर आप अपनी यात्रा के बारे में बताइए।

आइसा की पत्रिका नई पीढ़ी फिर से निकलनी शुरू हो गई है। आइसा की टीम को इसके लिए बहुत बहुत धन्यवाद। आज जब मीडिया पर पूरी तरह से पूंजी का नियन्त्रण है और खबरे पैसों की मोहताज बन चुकी हैं। ऐसे दौर में छात्र राजनीति से निकली हुई एक पत्रिका वैकल्पिक मीडिया के तौर पर सामने आएगी और मजबूत हस्तक्षेप करेगी। मेरी यात्रा सरकारी स्कूल से शुरू होती है और सरस्वती शिशु मन्दिर से 10 वीं की पढ़ाई करने के बाद जिले से ही मैंने इंटर किया उसके बाद बीएचयू से स्नातक और जेएनयू से एम ए और अभी यहां से पीचडी कर रहा हूं। घर की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं रहने से मुझे भी जिले से बाहर निकल के पढ़ने के लिए संघर्ष करना पड़ा। आम तौर पे ये होता है कि उच्च शिक्षा के लिए बाहर जाने के लिए मध्यम और निम्न मध्यम वर्गीय परिवार से आने वाले लड़के लड़कियों को घर परिवार से लड़ना पड़ता है। घरवालों से मुझे भी जिद करना पड़ा। बीचयू के दिनों से वामपंथी राजनीति के तरफ झुकाव शुरू हो गया था। लेकिन जेएनयू आने के बाद यहां आइसा के लोगों से मिला और कॉमरेड चंदू की डॉक्यूमेंट्री से प्रभावित हुआ और आइसा का सक्रिय सदस्य हो गया।



नीतीश आप जेएनयू छात्र संघ के अब अध्यक्ष हैं, आप अपनी जीत को कैसे देखते हैं?

आज के दौर में जब कैपसों को बेचा जा रहा है, फंड कट किए जा रहे हैं उस दौर में जेएनयू में आइसा की राजनीति, जो 90 के दशक से शुरू हुई थी जहां पहली बार कॉमरेड चंदू उपाध्यक्ष जीत के आए थे और प्रणय कृष्ण अध्यक्ष पद पर जीत हासिल किए थे, कैपस बचाने और इसे और बेहतर बनाने की लड़ाई है। 1995 में जब जेएनयू में फीस वृद्धि की गई तब उसकी मुखलाफात चंदू ने किया और फीस वृद्धि वापस हुआ। आज हम उस दौर में हैं जहां फंड को लगातार काटा जा रहा है, इन्फ्रास्ट्रक्चर की हालत बहुत खराब है। जेएनयूएसयू के अध्यक्ष होने के नाते मेरी यह जिम्मेदारी है कि आज जेएनयू जिन समस्याओं से जूझ रहा है उसको हम दूर कर सकें। हम ज्यादा से ज्यादा फंड ला सकें, जेएनयू का अपना इंस्टेंस

मॉडल फिर से शुरू हो, सारे यूनिवर्सिटी के डेमोक्रेटिक बॉडी में जेएनयूएसयू का प्रतिनिधत्व हो। रोचक बात है कि आइसा को अलगाव में डालने की कोशिश की गई। छात्र विरोधी साबित करने के लिए दुष्प्रचार चलाया गया लेकिन आइसा के अगुवाई में यूनाइटेड लेफ्ट पैनल की जीत ने इस बात को सुनिश्चित किया कि कैंपस में किसी भी अन्य वामपंथी छात्र संगठनों की तुलना में भी आइसा पर छात्रों का विश्वास ज्यादा है। और यह आइसा की राजनीति और इसके आंदोलन के वजह से है।

बिहार के एक जिले से निकल कर जेएनयू तक पहुंचे और अब अध्यक्ष हैं, आप अपनी इस पुरी यात्रा के अनुभव से बताइए कि सार्वजनिक शिक्षा और सरकारी शिक्षण संस्थान देश में कितना जरूरी हैं?

जेएनयू जैसा विश्वविद्यालय नहीं होता तो हम आज दिल्ली में नहीं रह पाते। यहां पर जिनकी मास्टर्स की पढ़ाई खत्म होती है उनके पास घर जाने के अलावा कोई दूसरा चारा नहीं रहता। सरकारी शिक्षण संस्थान अगर नहीं होंगे तो गरीब छात्र पढ़ नहीं पाएंगे। इतनी असमानता है, जातिगत भेदभाव है। शिक्षा से ही हम इन चीजों को बदल पाएंगे। खासकर के इतिहास और राजनीति विज्ञान जैसे विषयों पर तो निजी संस्थानों में कोई अभिभावक मोटी फीस के लिए पैसा खर्चा नहीं करता। सरकारी संस्थानों में आरक्षण और बहुत कम फीस जैसी सुविधाएं शोषित वंचित तबके को एक बेहतर माहौल उपलब्ध कराता है जहां वो बेहिचक पढ़ पाते हैं। हालांकि आज नई शिक्षा नीति के माध्यम से सरकारी शिक्षण संस्थानों को HEFA के लोन मॉडल के हवाले किया जा रहा है। इसलिए इस देश में सभी रूपों में मौजूद भेदभाव को मिटाने के लिए लोगों को शिक्षित होना जरूरी है और उसके लिए सरकारी शिक्षण संस्थानों का होना बहुत अनिवार्य है।

जेएनयू में एक मजबूत स्टूडेंट मूवमेंट की विरासत है, बतौर छात्र संघ अध्यक्ष आप इस विरासत को कैसे देखते हैं ? आप इसे आगे कैसे बढ़ाएंगे?

कैंपस में आइसा के संघर्षों की एक लंबी विरासत है और हमारी जीत उन्हीं संघर्षों के बंदोबस्त है। आइसा ने यहां के फीस स्ट्रक्चर में महत्वपूर्ण भूमिका निभाया है। कैंपस में ओबीसी आरक्षण की लड़ाई आइसा ने लड़ी है, नेस्ले जैसी बड़ी पूंजी वाली कम्पनियों को जेएनयू कैंपस में आने से आइसा ने रोका है। वर्तमान की चुनौतियों से टकराते हुए आइसा की आंदोलनकारी विरासत को, जेएनयूएसयू की विरासत को आगे बढ़ाने की जिम्मेदारी हमारे कंधों पर है। जेएनयू का सत्ता से टकराने का इतिहास रहा है और वर्तमान सांप्रदायिक फासीवादी हुकूमत के खिलाफ, इसकी निरंकुश शासन के खिलाफ जेएनयू का संघर्ष जारी रहेगा।

वर्तमान हुकूमत छात्र राजनीति पर हमले कर रही है। इस दौर में शिक्षा और लोकतंत्र पर संकट गहरा गए हैं। सरकार चाहती है कि छात्रों की राजनीतिक चेतना शून्य हो जाए, तार्किक सोच खत्म कर दिए जाएं।

जेएनयू को देशद्रोहियों का अड्डा कहा गया, इसको बंद करने की बातें कहीं गईं, शटडाउन जेएनयू कैंपेन चला , बाहर से जेएनयू को जब आप देखते थे और यहां आप जब आए तो इसे देखने की आपकी दृष्टि में क्या बदलाव आए?

जेएनयू पर एक टारगेटेड हमला किया गया है। और इसलिए किया गया क्योंकि जेएनयू सार्वजनिक शिक्षा का एक रोल मॉडल है और सार्वजनिक शिक्षा को बर्बाद करने के लिए सरकार ने इसके रोल मॉडल पर ही सबसे ज्यादा हमला किया। जेएनयू को यहां के छात्रों का और छात्र संघ ने लड़ के बचाया है। यहां के अकादमिक को बर्बाद करने की कोशिश की जा रही है। लगातार फंड कट हो रहा है। आरएसएस और बीजेपी से जुड़े लोगों की नियुक्तियां हो रही हैं। लेकिन यह हमला सिर्फ जेएनयू पर नहीं है। ये हमला देश भर के विश्वविद्यालयों में पहले हो चुका है। पटना विश्वविद्यालय हो, इलाहाबाद या मगध विश्वविद्यालय हो सबको बर्बाद किया जा चुका है। रही बात दृष्टि में बदलाव की तो इस कैंपस में जो आया उसके दृष्टि में बदलाव जरूर होगा। हमने कई ऐसे दक्षिणपंथियों के विचार में बदलाव देखा है और वो लोग कहते हैं कि जितना दुष्प्रचार इसकैंपस बारे में बाहर फैलाया गया है ठीक उसके उलट है ये विश्वविद्यालय। यहां जितना डेमोक्रेटिक माहौल है उतना डेमोक्रेटिक माहौल देश के किसी भी कैंपस में नहीं है। जेएनयू आने के बाद हमारे भीतर दृष्टिगत बदलाव हुए।

देश की वर्तमान छात्र राजनीति पर आपकी टिप्पणी और संदेश?

वर्तमान हुकूमत छात्र राजनीति पर हमले कर रही है। इस दौर में शिक्षा और लोकतंत्र पर संकट गहरा गए हैं। सरकार चाहती है कि छात्रों की राजनीतिक चेतना शून्य हो जाए, तार्किक सोच खत्म कर दिए जाएं। छात्र सवाल नहीं पूछें। छात्र आंदोलनों के लिए हमारा यही संदेश है जो बाबा साहब भीम राव अंबेडकर के कहा था। शिक्षित बनो, संघर्ष करो, और संगठित रहो। मौजूदा समय में छात्र आंदोलनों को देश में चल रहे अन्य आंदोलनों के साथ एका बना के लड़ने की दिशा में आगे बढ़ना है।

मौजूदा फासीवादी सरकार मनुवादी विचारों से लैस है और देश के हर वर्ग पर चौतरफा हमला कर रही है। इसलिए संयुक्त मोर्चे में लड़ने की जरूरत है। छात्र आंदोलनों को किसान मजदूर आंदोलनों के साथ कंधे से कंधे मिलाकर लड़ाई लड़नी है। ●

STUDENT MOVEMENTS MUST RECLAIM UNIVERSITY AS A DEMOCRATIC SPACE

■ **Neville Thomas**

The National Education Policy (NEP) has been the Modi sarkaar's weapon of choice for dismantling higher educational institutions and selling out the scraps that remain to the highest bidder. At the same time, the government has unleashed a parallel attack on universities to justify this process of ripping the educational system apart in the name of reform, an attack on democratic voices and spaces in our universities and colleges, an attack on voices and minds who resist these antipeople policies.

The NEP stays true to the vision of India's big industrial capitalists of an education for capital development over an education based on social development, as envisioned in the Ambani-Birla Report of 2000 on policy reforms in education. Whether it be the creation of the loan agency HEFA, which trickles down to push up the overall cost of education, or the push towards centralised common tests for admission through CUET, the turning of UG and PG degrees into vocational skill factories by encouraging dropouts, or the shutting down of students' union elections campus by campus, each step stands in line with the multi-billionaire plans for an education free from public oversight and public duty.

These 'reforms' have been pushed through on

the back of widespread clamping down of democratic expression and dissent. Campus spaces have become increasingly insular with checkpoints, barricades and an army of guards who stand to prevent 'infiltration' into the campus. Of course, more often than not the infiltrators are none other than students of those very universities who do not have the

THIS ONGOING PROJECT TO VILIFY PUBLIC UNIVERSITIES HAS BEEN TO PUT AN END TO STUDENTS' UNION ELECTIONS. THE TIME OF ELECTIONS IS A TIME OF POLEMICS WHICH SHARPEN THE ENGAGEMENT WITH ONGOING POLITICAL STRUGGLES IN THE COUNTRY.

correct identification on themselves at all times like a leash around their neck. Narratives are spun about leeches and parasites of the education system and, more importantly, of the taxpayer's hard-earned money wasted on ungrateful middle-aged adults who don't want to do a day's hard work in their lives. Any expression of demand for rights is

immediately suppressed with a nonstop flow of suspensions, expulsions and even police action.

This plan to systematically isolate campuses and students' voices finds its most advanced execution in the efforts to undermine the students' struggles originating in JNU. The JNUSU, which stands as one of the leading expressions of campus democracy and the students' vanguard of democratic struggles on and off campuses, is vilified as a den of anti-nationals and hub of deshdrohi politics. Smear campaigns in the media, outright attacks on students by the ABVP-admin nexus and the

choking of funding all come together to destroy the fighting spirit of students of JNU and their larger connection to the politics of India.

In the last ten years we have seen one goal of this ongoing project to vilify public universities has been to put an end to students' union elections. The time of elections is a time of polemics which sharpen the engagement with ongoing political struggles in the country. While the Lyngdoh Committee Recommendations effectively seek to render students' unions as toothless nominally representative bodies, the BJP government has gone one step further in putting an end to students union elections itself, which we have especially seen occur across UP where once the campuses of Lucknow University, Allahabad University, BHU and others used to be centres of resistance to the communal fascist politics of the BJP-RSS. We have also seen how in states where union elections have been stopped since many years, like in Karnataka, students are increasingly left without avenues or possibilities of collective struggle for their rights and demands.

In Jamia and AMU we see the outright intervention of the state and police, hand-in-hand with the university administration, to clamp down on students' lives. We can never forget the paramilitary attack on the campuses of Jamia Millia Islamia and Aligarh Muslim University, and the brutal violence inflicted on the students to this day. It is the clear fascist anti-Muslim project of this BJP government that motivates these direct assaults on these minority institutions. Violence on students has also been exerted at multiple points where the rights of the students conflict with the interests of the state and its backers. The recent protests at HCU underline the extent to which governments go to suppress dissent against its policies. In order to safeguard the interests of the ruling class land mafia the

Congress government has unleashed lathi charges and violent detentions on the students' uprising.

The wider clampdown on campus democracy has created an environment where feudal forces thrive. From Allahabad University to Delhi University, we see outright attacks on students from Dalit communities. Casteism runs unchecked with the effective dismantling of ideas of social justice from policies to classrooms. For a long time Indian Institutes, despite being public higher educational institutes, have maintained an unchallenged hierarchy of caste resulting in the exclusion, and even many deaths, of students from marginalised communities. This model is being reproduced at a mass scale across public universities. With the RSS' chokehold on universities, administrative, faculty and PhD appointments are a matter of political favouritism that replicate caste-class alliances. NFS (Not Found Suitable) enables open bias against students from Dalit, Adivasi, OBC and minority communities and restricts the entry of students from these communities into universities. The new norm of uniformity works toward eliminating the discourses on campus that would challenge the status quo.

Overall campuses are being policed and surveilled to prevent any expression of democratic politics and assertion. The technological advances of the past few decades have been increasingly incorporated and normalised in campus functioning. With CCTV surveillance being used at every corner of the campus we also see administrations even using professional video recorders to record, identify and intimidate students who take part in protests. Digital surveillance extends to personal accounts and online presence of students in a gross violation of the right to privacy.

Increasingly we are faced with the perils that

the fascist assault brings to universities. The ideas of the public university and education for all are being attacked in order to further the interests of the ruling classes. Private universities exemplify this totalitarian structure and practice. Hostel rooms are not spaces of privacy but places that can be invaded at any time. In the name of security checkpoints and scanners are installed that infringe on students autonomy and privacy. The private university model is what has been increasingly pushed in spaces of public education, effectively rolling back the successes of the students' movement over the past many decades. Denying funds and choking public universities effectively are supported by the explosive growth of private universities as an alternative. With this comes a new norm of students reduced to individual units separated

from each other and stripped off their collective power.

The task before the students' movement today is to resist these increasing encroachments into our campuses. Democratic expression cannot be allowed to come to an end as desired by the Ambani-Birla report and implemented by the Modi government. Today's attack on our universities is part of a larger fascist attack which seeks to eliminate democratic expression across the country in the name of One Nation, One Party, One Leader. The politics of communalism and division which has settled in power over the last 10 years must be resisted from within our campuses. Democratic expression and spaces must be reclaimed and occupied by the students movement as it continues its advance today. ●

CASTE CENSUS: WAY FORWARD OR RETROGRESSION?

■ Ipil Baski

India has been since long, marred with the evils of the archaic caste system. Modern urban India would vehemently deny its existence and that it has been uprooted, only agreeing upon the fact that only the scars of caste practice now remain which continue to haunt our society even now. The first census in independent India, took place in 1951, after which, the government discontinued the practice, except for schedule castes and scheduled tribes. By 1961, the central government permitted states to conduct their own surveys and compile their own specific lists of OBCs if they wished. The BJP government's decision to include caste enumeration in the next decennial census after

demanding for it has long been overdue, nonetheless arriving at last. The last nationwide caste census took place in 2011, although, the Socio-Economic and Caste Census (SECC) attempted to gather such data, but the results were not officially released due to concerns about accuracy and incompleteness. In April 2025, the Indian government approved the inclusion of caste data in the upcoming national census, which was delayed from 2021 due to the COVID-19 pandemic.

The agenda of a caste census has been central to India's social justice movement since its inception. Caste is fundamental in



understanding the social fabric of India. It is unfortunate that it has not been taken seriously due to the absence of data, and is often perceived as divisive. This also reduces the understanding of caste to immediate political gratification. Caste in India not only determines one's social, but also determines the vulnerability of certain communities owing to their caste position. Casteism has for ages been influencing access to resources, education, and opportunities.

Caste census helps in identifying marginalised communities that are exploited time and again with their resources being snatched away from them, it helps in designing schemes to protect them and uplift them. Caste census also helps in the distribution of public resources equitably. It provides a clear insight into the population size and living conditions of different caste groups, which further help in allocating resources like education, healthcare, and employment benefits more effectively.

Caste census allows caste-based reservations to function effectively so as to ensure equal opportunity and access to basic rights as an Indian citizen. But to assess whether these policies are working, an accurate caste-based data is required. A caste census helps monitor the impact and allows for better planning and adjustments. Caste plays a major role in shaping India's society, economy, and politics. A caste census would give a deeper understanding of the population's composition and help understand and analyse how different communities interact and where the inequalities lie.

It is important to understand and remember the fact that the caste census was allowed to be held only for the scheduled tribes and scheduled castes in India, speaks loudly and reeks of castiesm in itself. The fact that the dominant or the oppressive castes have been left out of the caste census subtly implies that caste aggression and the horrors of it are

pardoned for them, but not for the rest. They need not bear the brunt of caste oppression and can continue to live outside of it while enjoying its benefits and can again very easily shed off all responsibility pertaining to it, leaving the rest to be documented and the oppression continues.

India has seen a rather big shift since 2014, when the BJP came to power with Mr. Narendra Modi becoming the Prime Minister of India. The country, has since then, seen rise in communal violence. Violence against women, dalits, adivasis, muslims and other marginalised communities. It seems that India has a new face now, which is of the cis-gendered patriarchal brahmin male and anything and anyone who are anything other than this, is seen as a threat to the new face of India. Since the announcement of the 2025 caste census, there has been a major outcry from the dominant caste and from the pro BJP community, who call the caste census to be an “anti-Indian move”, which would harm the “unity of India”. Since 2014, rights of a common Indian citizen who calls out the corruption, communalism inducing activities of the and hypocrisy of the BJP is being cursed and called seditious, with our prisons being filled with activists, students, academician and anyone who dare question the authority of the BJP government. Castism is on the rise, with news of Dalits atrocities and murders taking place on a daily basis, the identity and resources of the adivasis being unlawfully captured by big capitalist corporation while the government watches, women, children and queer people running the risk of abuse and harassment is a new normal. Pro- BJP supporters are busy calling India a superpower, while the rich grow richer and the poor are left to squander and die. Caste census will help recognise these cracks that are visible in an everyday level but would now be on recorded data and hope that it would help in repairing

FASCISM HAS CREPT INTO THIS COUNTRY AND COMES CLAD IN ORANGE UNDER THE GUISE OF NATIONALISM BUT IS REALLY RELIGIOUS DOGMATISM AND BRAHMANICAL PATRIARCHY

situations and protecting the vulnerable in the country.

Fascism has crept into this country and comes clad in orange under the guise of nationalism but is really religious dogmatism and Brahmanical patriarchy. With the state of Kashmir being constantly weaponised for personal- political gains and the state of Manipur being allowed to burn, the condition of the country is beyond worrisome. The chants of “Jai shree Ram”, which once was used to express religious sentiments now sends shiver down the spine of people on the margins waiting upon their doors if its finally their time to be ostracised for now identifying with the “new face of India”? To be vilified and criminalised for not adhering the to the patriarchal brahmanical Hindutva rules, one is currently running the risk of either being killed or slapped with UAPA charges and thrown behind bars without hardly any hope of bail while hate mongers and rapists continue to roam free and showered with garlands. At a time when even the most simple and democratic like caste census is being called an anti- Indian approach, the fear that it would finally expose the caste- based hierarchy in this country and how a certain caste sits at the tops and regulates the whole of the country. It would bring forth to the people the exploitative system that exists that appeases only a few and leaves the majority to fend for themselves while profiting off of their backs. It is high time that we now recognise these atrocities and abuse and begin to question, as a nation that moves forward and not in retrogression. ●

THE NARAYANPUR MASSACRE AND THE BJP'S SINISTER MILITARY CAMPAIGN FOR A 'MAOIST-FREE INDIA'

Following the extra-judicial killing of CPI(Maoist) general secretary Comrade Nambala Keshav Rao alias Basavaraju in the Narayanpur massacre on 21 May, the Modi government seems to be in a celebratory mode. While Home Minister Amit Shah called it 'a landmark achievement in the battle to eliminate Naxalism', promptly endorsed as a 'remarkable success' by PM Narendra Modi, the BJP Karnataka unit used a meme showing Amit Shah holding a cauliflower. The symbolism invokes the carnage of Muslims in Bhagalpur in 1989, where killers claimed to have grown cauliflowers on the soil where more than a hundred Muslim victims in a village were reportedly buried. At the moment of the Modi government's claiming its biggest anti-Maoist military success, the BJP was quick to remember and celebrate one of India's ghastliest anti-Muslim massacres.

The Maoist deaths in the Narayanpur massacre have now also been corroborated in a press release issued on behalf of the Dandakaranya Special Zonal Committee of CPI (Maoist). According to this release, as many as 28 activists were killed in this massacre including several women and a number of senior leaders of the party. The release says till January, Basavaraju had an immediate security system comprising more than sixty fighters, but the number was reduced since then to ensure greater mobility. The group was also affected by desertions and betrayals, and this enabled the state to plan and execute the military operation with such success. At the time of the massacre, Basavaraju was guarded by thirty four fighters, seven of whom managed to

escape by breaking the encirclement of the security forces.

Basavaraju's mother, and members of families of Nageshwar Rao and other leaders, had approached the Andhra Pradesh High Court seeking custody of the dead bodies of their kin to bring them home for their funerals. The AP High Court gave a favourable order and the Chhattisgarh government had promised to the court to hand over the bodies after post mortem. But while the family members kept waiting for the bodies, the state cremated them calling them 'unclaimed bodies'. Just a few days ago, activist Soni Sori had narrated her experience of accompanying some Adivasi families to Bijapur hospital to collect the bodies of their members killed at Karregutta hills. Thousands of maggots were crawling on those decomposing bodies leaving them unrecognizable. For the Maoists and Adivasis of Bastar, the state's violence continues even after their lives are taken away.

The Modi government has fixed a deadline - 31 March 2026 - to make India Maoist-free. The security forces are being given a licence and an incentive to kill with each killing fetching guaranteed hefty rewards. There is a surrender policy for Maoists who side with the government, but the policy is not intended to rehabilitate them in what is called 'normal, peaceful life' but only to turn them into mercenaries and forcibly pit them against their former comrades, often fellow Adivasis from the same community, locality and families. With more than 60,000 security personnel from the central paramilitary forces like the

CRPF and its elite CoBRA commandos and various state forces like the Chhattisgarh police, the District Reserve Guard comprising mostly surrendered Maoists, Bastar Fighters and Special Task Force, Bastar today is among India's most densely militarised regions, where the people are subjected to aerial bombardment and the use of Israeli drones.

More than 300 security camps have turned the region into a military cantonment where there is one security personnel for every eight civilians. And for Adivasis in Bastar, every aspect of life is overshadowed and administered by the security forces. The autonomy promised in the Fifth Schedule of the Constitution and the rights provided under the Forest Rights Act or Panchayat Extension to Scheduled Areas Act have all disappeared in the eerie environment of the militarised administration of a police state. The militarisation of Bastar has a long history going back to UPA-era anti-Maoist campaigns like Operation Greenhunt and Salwa Judum, which in 2011 was termed unconstitutional and ordered to be dismantled by the Supreme Court. But the Modi era began with a renewed offensive with intensified violence. Militarisation today is a 'permanent settlement' to facilitate massive corporate plunder.

Let us also note that in the guise of a battle against Maoism, the Modi regime is out to silence every Adivasi protest in Bastar against this nexus of militarisation and corporate plunder. Gandhian Himanshu Kumar has been banished from Chhattisgarh; writer-activist Bela Bhatia is being harassed and suppressed; long-standing popular voice of Bastar and former CPI MLA Manish Kunjam is being targeted; the anti-militarisation umbrella platform of indigenous people called Moolvasi Bachao Manch has been banned; and indiscriminate cases are being filed and people

THE CAULIFLOWER IN AMIT SHAH'S HANDS IN THE SINISTER BJP KARNATAKA IMAGERY MUST SERVE AS A WARNING FOR ALL. AT A TIME WHEN MAOISTS HAD DECLARED A UNILATERAL CEASEFIRE, THERE MUST BE A BROAD CONVERGENCE FOR A POLITICAL RESOLUTION THROUGH PEACE AND DIALOGUE

arrested under draconian laws like the Chhattisgarh Special Public Safety Act and the Unlawful Activities Prevention Act. The Supreme Court has time and again said that upholding an ideology is no crime, there are guidelines for mandatory investigation into every encounter. Today ideological witch hunt and encounter killings, increasingly described chillingly as neutralization, have become pillars of state policy.

The ramifications of Operation Kagaar are not limited to Bastar or the Maoists. They concern every movement for justice, every form of dissent against fascist tyranny. Sooner rather than later, the template being developed in Bastar will be replicated elsewhere against newer target groups. The cauliflower in Amit Shah's hands in the sinister BJP Karnataka imagery must serve as a warning for all. At a time when Maoists had declared a unilateral ceasefire, there must be a broad convergence for a political resolution through peace and dialogue. A judicially monitored probe into Narayanpur and other recent massacres perpetrated under Operation Kagar is a must for the constitutional foundation of the Indian republic to survive. And regardless of how the Maoists deal with the current juncture and try and regroup after this setback, the indigenous people of Bastar and beyond deserve the fullest solidarity and support of all democratic forces in their quest for justice and dignity. ●



15 FOR 15: A MOVEMENT IN TRANSITION

■ Nitin Raj

On May 1st, 2025, tens of thousands of students, youth, and workers flooded the streets of Belgrade, assembling in front of the Serbian government building in a show of unity and defiance that marked one of the largest protest mobilisations in Serbia's recent memory. What began in mourning and rage over a tragic accident has evolved into a powerful and sustained movement against systemic corruption, authoritarian governance, and institutional decay.

The spark that ignited this movement came months earlier, on November 1, 2024, when a newly renovated concrete canopy collapsed at the main railway station in Novi Sad, Serbia's second-largest city. The accident killed 15 people, including two children, and critically injured many others. The station had only recently undergone renovations from 2021 to

2024, led by a Chinese consortium. Allegations of mismanagement, corruption, and shoddy construction emerged almost immediately, with many Serbians blaming the government under President Aleksandar Vučić and his Serbian Progressive Party (SNS). For many, the collapse symbolized a deeper dent in the system. An indifference to public safety, an erosion of democratic checks and balances, and a government increasingly unaccountable to its people.

Among the first to respond to this immediate tragedy were students and faculty from the Faculty of Dramatic Arts in Belgrade. On November 22, 2024, they organized a solemn, 15-minute street blockade to honor the victims but met with hostility from authorities which tried to limit the efforts. Later reports emerged of verbal and physical assaults on students by

individuals allegedly linked to municipal authorities. This hot-blooded attitude from the local authorities ignited widespread anger. Students who were already raged by chronic underfunding, authoritarian interference in universities, and viewed it as a sense of being silenced, began to organise more forcefully. They suspended classes, occupied their faculty buildings, and vowed to continue until justice was served.

What followed was a stunning wave of solidarity. The protests spread like wildfire. Universities acted as spaces soon transformed into spaces of resistance, and organising. The solidarity networks grew across cities, and diverse groups, from farmers to teachers, unions of labour and workers, cultural workers to medical professionals, coalesced around the students' demands which included, justice, scrutiny and accountability for the mishap which took 15 lives. The cityspace became a space of resistance as Major bridges were blocked, traffic junctions were occupied, and government buildings surrounded by the chatting protestors. On March 15, 2025, marking four and a half months since the tragedy, an estimated 275,000 to 325,000 people gathered in Belgrade in what came to be known as the "15 for 15" protest: 15 minutes of silence for 15 lives lost, and a call to action against a regime seen as dangerously indifferent to its people. What world witnessed a united expression of people who are not ready to settle with token gestures but pressing demands for fundamental change in the governance.

The prolonged series of protests delivered visible consequences. Due to increasing public pressure, Prime Minister Miloš Vučević and Novi Sad Mayor Milan Đurić stepped down on January 28, 2025, followed by the resignation of two SNS Members of Parliament and former Transport Minister Goran Vesić. The

government, shaken but far from humbled, responded with a mix of repression and denial. Public transport to Belgrade was restricted on protest days. Riot police surrounded parliament. President Vučić lashed out at "foreign intelligence agencies" for allegedly orchestrating an "imported revolution," but failed to produce any evidence. The claim wasn't enough to discredit the protests, which grew out of anger and turned into a collective desire for change. The public rejected the familiar script which has been used increasingly by embattled governments worldwide, that protests are merely the work of 'foreign interference.' Ultimately, force was used to disperse the demonstrators, riot police were deployed, violence against demonstrators was reported, and disturbing allegations emerged about the use of a "sonic cannon" during the March 15 rally. Meanwhile, three protesters were injured when a car rammed into a demonstration in a Belgrade suburb.

Undeterred by the violence used by the state, the students pressed forward. Their model of organising was rhizomatic, horizontal, decentralized, and leaderless, faceless but with many desires which united them and which made it remarkably resilient. Decisions were made in open assemblies that encouraged participatory democracy and protected the movement from being co-opted by political parties. This structure inspired other sectors. Cultural workers formed the "Culture in Blockade" initiative. Teachers launched the "Association of Schools on Strike." Judges and police officers, in an unprecedented show of defiance, signed petitions and issued statements in support of the movement.

A key feature of the protests has been the demand for accountability and transparency. Protesters called for the full publication of documents related to the Novi Sad reconstruction. While some documents were

released, many deemed them incomplete or sanitized. Sixteen individuals, including Goran Vesić, have been indicted for the disaster, but trials are still pending. Students also demanded justice for those assaulted during protests, dropping of criminal charges against demonstrators, and a 20% increase in education funding. There are talks going on on various levels with much scepticism but it seems like the resistance is not going to stop here.

The movement calls for a fundamental transformation of the system: the restoration of media freedom, judicial independence, democratic integrity, and an end to rampant state corruption. Discussions around a transitional government to guarantee fair elections are gaining ground within protest circles, though they remain politically contentious. The student-worker alliance has become a powerful symbol, not only for those at home but for students and workers across the world who fight for a new world rooted in liberty, equality, fraternity, and accountability.

In a time marked by the rise of far-right, fundamentalist, and authoritarian regimes, their struggle speaks to a global desire for radical change that refuses to be silenced or stopped. ●

